१

महाकवि माघ कृत—

शिशुपाल वधम्

प्रथमः सर्गः

डा० बाबूराम त्रिपाठी





शिशुपाल वधम्

प्रथमः सर्गः





महाकवि श्रीमाघविरचितम्

शिशुपालवधम्

प्रथमः सर्गः

(हिन्दी, संस्कृत विस्तृत व्याख्या तथा टिप्पणी सहितम्)

डा० बाबूराम त्रिपाठी
शास्त्री, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
सेण्ट जांस कालिज, आगरा

महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२

प्रकाशक
महालक्ष्मी प्रकाशन
शहीद भगतसिंह मार्ग, आगरा–२

संस्करण : १९७२–७३

मूल्य : ३·५०

मुद्रक :
उपाध्याय प्रेस, आगरा–२

प्राक्कथन

महाकवि माघ रचित "शिशुपाल वध महाकाव्य" संस्कृत साहित्य की वृहत्त्रयी का सर्वोत्तम रत्न है। कालिदासोत्तरकालीन काव्यों में शिशुपाल वध सर्वश्रेष्ठ काव्य है क्योंकि इसमें अद्भुत कवित्व प्रतिभा के साथ साथ उच्चकोटि का पाण्डित्य भी है। अतएव अन्य काव्यों की अपेक्षा इसमें शब्द काठिन्य तथा विशिष्ट अर्थगाम्भीर्य भी है। प्रस्तुत काव्य का प्रथम सर्ग, प्रायः सभी विश्वविद्यालयों की एम. ए. अथवा बी. ए. की परीक्षा में निर्धारित है परीक्षार्थियों के अध्ययन सौविध्य के लिये इस पर अनेक टीकायें भी उपलब्ध हैं, पर किसी एक ही पुस्तक में छात्रोपयोगी सभी आवश्यक बातों का निर्देश नहीं है, किसी पुस्तक में आलोचनात्मक विस्तृत भूमिका का अभाव है तो किसी में टीकायें अति संक्षिप्त हैं, प्राचीन टीकाओं में हिन्दी टीका में विस्तृत व्याख्या का अभाव है जिनमें हिन्दी व्याख्या है भी उनमें श्लोकों का अविकल हिन्दी अनुवाद नहीं है इसी प्रकार की अनेक कमियों को देखकर इस काव्य पर यह टीका लिखी गई है जिसमें आरम्भ में विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका है जिसके अन्तर्गत कवि विषयक परिचय के साथ साथ महाकवि माघ के कवित्व की विस्तार पूर्वक समीक्षा की गई है, उनके सभी प्रकार के काव्य गुणों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुये उन दोषों को भी बतलाया गया है, जो कि कालिदासोत्तरकालीन प्रायः सभी काव्यों में पाये जाते हैं। माघ में अगाध पाण्डित्य के होते हुये भी सरस एवं मधुर कवित्व की दृष्टि से उनमें किन किन बातों का अभाव है इन सबका यथा स्थान निर्देश किया गया है।

आलोचनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त टीका भाग में प्रत्येक श्लोक का प्रसंग, अन्वय, शब्दार्थ, अविकल हिन्दी अनुवाद, हिन्दी भावार्थ, समास, विग्रह कोश, व्याकरण, संस्कृत टीका, संस्कृत सरलार्थ, अलंकार, छन्द, तथा कवि का अभिप्राय एवं पौराणिक संकेत आदि सभी आवश्यक अपेक्षित सामग्री प्रस्तुत की गई है प्रयास यही रहा है कि छात्रों को माघ के पूर्ण अध्ययन के

लिये अन्य ग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता न रहे, पुस्तक सर्वांशत: अपने में पूर्ण हो। शैली सरल एवं सुबोध हो।

अन्त में श्लोकों की अकारादि क्रमानुसार सूची दी गई है तथा प्रथम सर्ग के अन्तर्गत आने वाली मुख्य-मुख्य सूक्तियों का भी संग्रह है। इन सूक्तियों की व्याख्या उन श्लोकों के साथ ही दी गई है जहाँ से ये सूक्तियाँ उद्धृत की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाशित करने का श्रेय महालक्ष्मी प्रकाशन को है जिनके प्रयास एवं व्यय भार से यह कार्य पूरा हो सका, साथ ही वे प्रिय छात्र भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी प्रेरणा एवं सामयिक सहायता से इतने अल्पकाल में प्रस्तुत पुस्तक तैय्यार की जा सकी है।

यद्यपि यह ध्यान रखा गया है कि छपाई सम्बन्धी अशुद्धियाँ न रह जाय फिर भी यदि कहीं ऐसी अशुद्धियों की ओर संकेत किया जायेगा तो उन्हें यथा सम्भव दूर करने का प्रयास किया जायेगा। आशा है छात्र इस टीका से लाभान्वित होंगे।

—बाबूराम त्रिपाठी

विषय-सूची

आलोचना भाग

संस्कृत काव्य परम्परा

संस्कृत काव्य साहित्य को मुख्यत: दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) दृश्य काव्य (२) श्रव्य काव्य। दृश्य के अन्तर्गत रूपक आते हैं, इन्हीं का एक प्रमुख भेद नाटक है। रूपक रंग-मञ्च पर अभिनीत होते हैं और वे जनता द्वारा दृश्य होते हैं, पर श्रव्य काव्य अभिनीत नहीं होते अपितु वे केवल पठनीय और श्रवणीय ही होते हैं। दृश्य काव्यों में जहाँ गद्य और पद्य का मिश्रण होता है, श्रव्य काव्यों में या तो केवल पद्य ही होते हैं, या केवल गद्य ही। यद्यपि श्रव्य काव्यों की एक विधा और भी हैं जिसमें गद्य और पद्य दोंनों प्राय: मिश्रित रहते हैं जिसे "चम्पू काव्य" कहा जाता है, पर चम्पू काव्य दृश्य काव्य-कोटि में नहीं रखा जा सकता, यह भी अन्य श्रव्य काव्यों की भाँति पठनीय और श्रवणीय ही होता है। इस प्रकार श्रव्य काव्य तीन प्रकार के होते हैं—पद्य काव्य, गद्य काव्य और चम्पू-काव्य। इस पद्य काव्य के भी तीन उपभेद होते हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य। प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ—शिशुपाल वध-पद्य काव्य है और यह महाकाव्य की कोटि में परिगणित होता है।

महाकाव्य का लक्षण

आचार्य विश्वनाथ ने अपने "साहित्य दर्पण" ग्रन्थ में महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंश क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥

एक वंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
अविकत्थनः क्षमावानति गम्भीरो महासत्त्वः॥

स्थेयान्निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः।
इतिहासोद्भूवं वृत्त मन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
श्रृङ्गार वीर शान्ता नामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वं नाटक सन्धयः ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा ॥

क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
एक वृत्तमयैः पद्यै रवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥

नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन् दृश्यते ॥

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोषध्वान्त वासराः ।

प्रात र्मध्याह्न मृगया शैलर्तु वन सागराः ।
सम्भोग विप्रलम्भौ च मुनि स्वर्ग पुराध्वराः ॥

रण प्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथा योग्यं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥

उपर्युक्त महाकाव्य के लक्षण से मिलता-जुलता ही महाकाव्य का लक्षण आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में भी पाया जाता है । सम्भव है कि इस महाकाव्य के लक्षण में जितनी बातें बतलाई गईं हैं, वे सभी शिशुपाल वध महाकाव्य में न पाईं जातीं हों और सभी बातों का एक साथ पाया जाना भी महाकाव्यकार के लिये अनिवार्य भी नहीं है तथापि इस महाकाव्य में इस लक्षण में परिगणित अधिकांश बातें देखी जाती हैं ।

उक्त महाकाव्य के लक्षण का सारांश यह है कि—

(१) महाकाव्य सर्गबद्ध होता है अर्थात् महाकाव्य के कथानक को सर्गों में निबद्ध किया जाता है, इन सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए जो कि न अति लघु हों और न अति दीर्घ हों ।

(२) महाकाव्य का नायक कोई देवता अथवा कोई सत्कुलोत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए । यह नायक धीरोदात्त गुणों वाला एक व्यक्ति होना चाहिये, धीरोदात्त गुणान्वित वह नायक होता है जो कि आत्म प्रशंसा करने वाला न हो, क्षमावान् अति गम्भीर स्वभाव वाला एवं हर्ष शोक आदि से न विचलित होने वाला, विनयादि सद्गुणों से गर्वादि दुर्गुणों कों दबाये रखने वाला, और अपने संकल्प को पूरा करने वाला हो । इस प्रकार के

गुणों से सम्पन्न एक व्यक्ति भी नायक हो सकता है और एक वंश में उत्पन्न अनेक कुलीन राजा भी नायक हो सकते हैं (रघुवंश महाकाव्य में अनेक कुलीन राजा ही नायक हैं)।

(३) महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध किसी महापुरुष पर आश्रित होना चाहिए। महाकाव्य के कथानक का फल पुरुषार्थ चतुष्टय (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) की प्राप्ति अथवा इनमें से किसी एक की प्राप्ति होना चाहिए।

(४) सर्गों में निबद्ध महाकाव्य के एक सर्ग में किसी एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिये, पर सर्ग के अन्त में एक दो छन्दों को बदल देना चाहिये अर्थात् जिस छन्द में पूरा सर्ग लिखा गया है अन्त में उससे भिन्न छन्दों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

(५) पर कहीं-कहीं किसी सर्ग में विविध छन्दों का भी प्रयोग किया जाता है जैसा कि प्रस्तुत महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में देखा जाता है। सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना भी दे दी जानी चाहिए।

(६) महाकाव्य में शृङ्गार, वीर तथा शान्त रसों में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए तथा अन्य रस भी अप्रधान रूप में अभिव्यक्त होने चाहिए, ये रस प्रधान रस के सहायक होते हैं। साथ ही महाकाव्य में भी नाटकों की भाँति पञ्च सन्धियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(७) महाकाव्य के आदि में नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा कथावस्तु निर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया जाना चाहिये। महाकाव्य में कुत्रचित् खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण कीर्तन भी देखा जाता है।

(८) महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, नगर, यज्ञ, मुनि, स्वर्ग, सम्भोग, विप्रलम्भ, रण, प्रयाण, विवाह, मन्त्रणा, पुत्र जन्म, अभ्युदय आदि का भी यथास्थान वर्णन किया जाना जाहिए।

(९) महाकाव्य की भाषा अलंकृत तथा शैली प्रासादिक एवं स्पष्ट होनी चाहिए। विविध शास्त्रीय छन्दों का प्रयोग होना चाहिये। अलंकार-शास्त्रीय नियमों का यथा सम्भव निर्वाह किया जाना चाहिए।

यद्यपि महाकाव्य के ये सब साधारण लक्षण बतलाये गये हैं पर इनका अक्षरशः निर्वाह किसी भी महाकाव्य में नहीं किया गया है और न ऐसा करना सम्भव ही है। कालिदासोत्तर काव्यों में यद्यपि इनका अधिक पालन देखा जाता है तथापि एक ही महाकाव्य में ये सभी लक्षण नहीं पाये जाते हैं। महाकाव्यकार के लिये ऐसा करना अनिवार्य भी नहीं है।

शिशुपाल वध का महाकाव्यत्व

लक्ष्य ग्रन्थों के निर्माण के बाद ही उन्हीं के आधार पर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है अतएव भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों को दृष्टि में रख कर आचार्यों ने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया है, आचार्य दण्डी के आदर्श लक्ष्य ग्रन्थ रामायण और महाभारत थे, इन्हीं को लक्ष्य कर उन्होंने काव्य लक्षण आदि पर विचार किया है, पर आचार्य विश्वनाथ के लक्ष्य ग्रन्थ, मुख्यतः कालिदासोत्तर कालीन महाकाव्य—किरातार्जुनीय, महाकाव्य एवं शिशुपालवध आदि महाकाव्य थे, इन्हीं को दृष्टि में रखकर उन्होंने अपने 'साहित्य दर्पण' में काव्य लक्षण आदि पर विचार किया हैं। ऊपर लिखा गया महाकाव्य का लक्षण मुख्यतः साहित्य दर्पण के अनुसार है।

यदि उक्त लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में 'शिशुपाल वध' की महाकाव्यता का मूल्याङ्कन किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि महाकवि माघ ने उक्त शास्त्रीय नियमों एवं रूढ़ियों का अक्षरशः अनुसरण करने का प्रयास किया है, अतः उक्त महाकाव्य के लक्षण का 'शिशुपाल वध' में भली-भाँति समन्वय किया जा सकता है।

(१) 'शिशुपाल वध' सर्गबद्ध महाकाव्य है, इसमें २० सर्ग हैं। किसी भी सर्ग में ५० से कम और १५० से अधिक श्लोक नहीं है। प्रत्येक सर्ग में केवल एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है, और सर्गान्त में छन्द परिवर्तन कर दिया गया है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग के वर्ण्य विषय की सूचना भी दे दी गई है। इसके चतुर्थ सर्ग में अवश्य विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है, वह भी सम्भवतः "नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते" का उदाहरण प्रस्तुत करने के ही लिये किया गया है।

(२) इस महाकाव्य के नायक श्री कृष्णचन्द्र है जो कि क्षत्रियकुलोत्पन्न तथा धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से सम्पन्न है। वे क्षमाशील, गम्भीर,

हर्षशोकादि से प्रभावित न होने वाले, निगूढ़ाहंकार, स्वीकृत संकल्प के निर्वाहक तथा अविकत्थन (आत्मश्लाघा न करने वाले) हैं।

(३) इस महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक है जो कि महाभारत के सभापर्व के आधार पर निर्मित की गई है। इसमें शिशुपाल वध की ही आधिकारिक कथा है जिसका अनेक प्रासङ्गिक वर्णनों द्वारा विस्तार किया गया है।

(४) यह महाकाव्य घटना प्रधान है अतएव इसमें नायक के जीवन की पूर्ण झांकी नहीं मिलती, जैसा कि हम रामायण आदि व्यक्ति प्रधान काव्यों में पाते हैं। इसमें मुख्य घटना शिशुपाल का वध है, अतएव समस्त वस्तुविन्यास इसी घटना पर ही केन्द्रित हैं। शिशुपाल का वध ही इस महाकाव्य का फल या कार्य है और अन्ततो गत्वा यह फल इस महाकाव्य के नायक भगवान् श्री कृष्ण को मिलता है।

(५) उक्त लक्षण के अनुसार इसमें प्रधान रस 'वीर' है, शृङ्गार एवं रौद्र आदि रसों की भी अङ्ग रूप में यथा स्थान योजना की गई है।

(६) शिशुपाल वध के आरम्भ में यद्यपि नमस्कारात्मक अथवा आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण नहीं है तथापि इसमें वस्तु निर्देशात्मक मंगल है, जैसा कि टीकाकार मल्लिनाथ द्वारा बतलाया गया है—"शिशुपालवधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः तत्र भवान् महाकविमाघः निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्ति कामः आदौ श्री शब्दप्रयोग पूर्वकं काव्यफलशिशुपालवधबीजभूतं भगवतः श्री कृष्णस्य नारददर्शनरुप वस्तुनिर्दिशन् मङ्गलं विदधाति"। इसके अतिरिक्त इसमें नाटक की सभी सन्धियाँ भी देखीं जाती है। इसमें कहीं कहीं पर दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा भी की गई है।

(७) इस महाकाव्य के तृतीय सर्ग में द्वारिकापुरी का, चतुर्थ में रैवतक पर्वत का, पञ्चम में कृष्ण के शिविर का, षष्ठ में षड्ऋतुओं का, सप्तम तथा अष्टम सर्गों में उपवन वन वन-विहार जलक्रीड़ा आदि का वर्णन है। नवम में सूर्यास्त एवं चन्द्रोदय का, दशम में अन्य विलास क्रीड़ाओं का, एकादश में प्रभात का, द्वादश में सेना प्रस्थान का वर्णन है, अन्त में युद्ध का वर्णन और शिशुपाल का वध है। इस प्रकार उक्त लक्षण के अनुसार मूल

कथा के अतिरिक्त एक महाकाव्य में जिन-जिन वर्णनों की आवश्यकता होती है उनका प्रायः इसमें वर्णन भी उपलब्ध है।

(८) महाकाव्य का नाम करण, कवि के नाम पर, नायक के नाम पर अथवा वर्णनीय चरित्र के नाम पर किया जाता है, इस दृष्टि से इस महाकाव्य का नाम वर्णनीय घटना के आधार पर शिशुपाल वध रखा गया है। कुछ लोग कवि के नाम पर इसे माघ काव्य भी कहते हैं।

इस प्रकार शिशुपाल वध महाकाव्य, उक्त लक्षण की दृष्टि से सर्वाङ्ग-पूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो साहित्य दर्पण कार ने इस महाकाव्य को सामने रख कर ही उक्त महाकाव्य का लक्षण लिखा है अथवा कवि ने उक्त लक्षण के उदाहरण के रूप में इस महाकाव्य की रचना की है। लक्षण का इतना अधिक समन्वय अन्य काव्यों में नहीं देखा जाता है। अतः यह महाकाव्य शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षण की दृष्टि से सर्वाङ्ग पूर्ण महाकाव्य है।

महाकाव्य की उत्पत्ति और विकास

यद्यपि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि भारतीय कवियों को महाकाव्य रचने की प्रेरणा, अतिमहनीय, राष्ट्रीय, अमरकाव्य, आदि महाकाव्य वाल्मीकि रामायण से तथा कुछ अंशों में महाभारत से प्राप्त हुई है तथापि महाकाव्यों की उत्पत्ति का बीज हमें वेदों से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ही हमें कई स्थल ऐसे मिलते हैं, जहाँ मन्त्रद्रष्टा ऋषि की वाणी में हमें काव्य प्रतिभा दृष्टिगत होती है। वेद की नाराशंसी ऋचाओं में जहाँ तत्कालीन दानशील राजाओं की स्तुतियाँ हैं, हमें काव्यत्व की स्पष्ट झलक देख पड़ती है, इसी प्रकार अथर्व वेद की उन ऋचाओं में भी जहाँ राजा परीक्षित के सौख्य का वर्णन है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कुछ साहित्य सम्पन्न गाथायें हैं जैसे सुपर्णाख्यान में तथा शुनः शेप के आख्यान में। पर वस्तुतः आज हम जिसे काव्यमार्ग या कवि कर्म कहते हैं उसका पूर्ण परिपाक हमें वेदों में उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि वैदिक उपाख्यानों को लेकर कुछ काव्य अवश्य लिखे गये है, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वेद महाकाव्य के स्रोत हैं। वस्तुतः भारतीय महाकाव्यों के आदि स्रोत रामायण और महाभारत ही हैं। आदि महाकाव्य रामायण से ही उद्भूत काव्यधारा ने भारतीय

साहित्योपवन को सिञ्चित किया है और अनेक काव्य कुसुमों को विकसित किया है। इसी काव्य पद्धति ने कालिदास, अश्वघोष, भास, भवभूति, भारवि, माघ, श्री हर्ष जैसे महाकवियों को काव्य रचना की प्रेरणा दी है। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य की विविध विधाओं में वर्ण्य विषय के रूप में प्रयुक्त अनेक आख्यान महाभारत से लिये गये हैं। इस प्रकार रामायण से काव्य पद्धति को तथा महाभारत से विविध विषयों को लेकर भारतीय कवियों ने विशाल काव्य साहित्य की रचना की है कहीं महाकाव्य, कहीं खण्डकाव्य तो कहीं नाटक आदि। गीतिकाव्य का प्रथम स्रोत श्री मद् भागवत पुराण को माना जाता है। इस प्रकार रामायण महाभारत तथा भागवत ही भारतीय काव्य साहित्य के उपजीव्य ग्रन्थ रत्न माने जाते हैं।

इन उपजीव्य ग्रन्थो की रचना के वाद संस्कृत महाकाव्यों की जो धारा प्रवाहित हुई वह उत्तरोत्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है और न्यूनाधिक रूप में वह अव भी विद्यमान है। अतएव मैक्समूलर महोदय का यह कथन कि ईशवीय प्रथम चार शताब्दियों में संस्कृत काव्य की रचना न हो सकी थी क्योंकि विदेशियों के आक्रमण से भारत की अन्तंदशा अस्त व्यस्त हो गई थी अतः राज्याश्रय के अभाव में काव्य का विकास सम्भव न था, पुनः गुप्तकाल में आकर इस का पुनर्जागरण हुआ है। सर्वथा भ्रान्ति-पूर्ण है। स्वयं कनिष्क (७८ ई०) के राज्यत्व काल में वौद्ध कवि अश्वघोष ने धर्म प्रचार की दृष्टि से दो महाकाव्यों की रचना की थी। अश्वघोष के ये काव्य इस वात का प्रमाण हैं कि ईशवीय प्रथम शतक में संस्कृत काव्य कला लोकप्रिय वन चुकी थी इसीलिये वौद्ध होते हुये भी अश्वघोष ने पालि में न लिखकर संस्कृत में अपने काव्यों को लिखा था। इन काव्यों की विकसित भाषा एवं सरस कवित्व इस बात के स्पष्टतया परिचायक हैं कि इसके पूर्व भी उच्च कोटि का काव्य साहित्य रचा जा चुका था और इस समय भी उसका प्रचार हो रहा था, अतः मैक्समूलर महोदय का पुनर्जागरण का सिद्धान्त कोरी कपोल कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। डा० व्यूलर ने लिखा है कि इस समय भी अनेक स्तुतिकाव्यों की रचनायें हो रही थीं दानी राजाओं की यशोगाथायें लिखी जा रही थीं, संस्कृत की दोनों ही विधाओं में गद्य व पद्य में रचना हो रही थी। १५० ई० का

रुद्रदामन का शिलालेख एक लघुकाय गद्य काव्य ही कहा जा सकता है। ३५० ई० की समुद्र गुप्त की प्रशस्ति भी इस बात का प्रमाण है कि इसके पूर्व अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी। फ्लीट की पुस्तक में उल्लिखित अनेक शिला लेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्रथम पांच शतकों में रचित काव्य ग्रन्थों में भी उतना ही उच्चकोटि का कवित्व है जितना कि हम कालान्तर में रचित काव्यों में पाते हैं। अतः यह निर्विवाद है कि संस्कृत काव्य की उत्पत्ति वेदों से हुई थी और वह तब से ही उत्तरोत्तर विकसित होती रही है। स्वयं पाणिनि (४०० ई०पू०) ने 'पाताल विजय' 'जाम्वती जय' नामक दो काव्यों की रचना की थी।पतज्जलि (१५० ई०पू०) ने अपने महाभाष्य में वाररुच काव्य का उल्लेख किया है और कितने ही अन्य कवियों के श्लोकांशों को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। जो कि काव्य रचना के उत्तरोत्तर विकास का प्रमाण हैं। बौद्ध कवि अश्वघोष का प्रथम शतक में होना तो प्रमाणित ही है पर अब अनेक अन्वेषणों के द्वारा यह भी प्रमाणित हो चुका है कि शकारि विक्रमादित्य नामक राजा प्रथम शतक में हुये थे इन्हीं के आश्रय में कालिदास ने अपनी रचनायें की थी अतः अश्वघोष या तो कालिदास से परवर्ती रहे होंगे या समकालीन। कालिदास ने अपने काव्य में वाल्मीकि और भास का सादर स्मरण किया है। यद्यपि आज प्राचीन काव्य ग्रन्थ कालकवलित हो चुके हैं। तथापि वर्तमान ग्रन्थों में दिये गये उनके उद्धरण उनके अस्तित्व के प्रमाण हैं। कालिदास के बाद के काव्य के विषय में तो प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध ही है। यद्यपि कालिदास और उनके पूर्ववर्ती काव्यों में तथा कालिदासोत्तर कालीन काव्यों में कवित्व की दृष्टि से बड़ा अन्तर है। काव्य का मर्म समझने के लिये यहाँ इन द्विविध काव्य शैलियों का संक्षेपतः विवेचन आवश्यक है।

कालिदास और उनके पूर्ववर्ती काव्य

पद्यकार अथवा सूक्तिकार तो अनेक हो सकते हैं और है भी, पर सच्चे कवि सुदुर्लभ ही होते हैं, सच्चे कवि में क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने वाले भावों के हृदयङ्गम करने की तथा मानव एवं प्रकृति के वाह्याभ्यन्तर भावों के समझने की अपूर्व क्षमता होती है, साथ ही वह इनकी यथातथ्य रूप में अभिव्यक्ति के लिये समस्त साधन-सामग्री के प्राप्त करने एवं प्रयोग

करने में भी कुशल होता है। कवि के कवित्व की परमोत्कृष्टता उसी समय परिलक्षित होती हैं जबकि वह वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा अन्तः सौन्दर्य को अपनी अन्तर्दृष्टि से देखकर अभिव्यक्त करता है फिर चाहे यह सौन्दर्य मानव के अन्तस् में हो और चाहे वह प्रकृति के नाना उपकरणों में हो। इस अन्तः सौन्दर्य का सच्चा पारखी और उसका चित्रोपम वर्णन करने वाला ही सच्चा कवि होता है। वाह्य सौन्दर्य सदा स्थिर स्थूल, अपरिवर्तनशील एवं निर्जीव होता है जबकि अन्तः सौन्दर्य सदा अस्थिर, सूक्ष्म, क्षण-क्षण में नवता धारण करने वाला; परिवर्तनशील एवं सजीव होता है। वाह्य सौन्दर्य के सदा स्थिर रहने के कारण उसका चित्र तो सर्व साधारण कभी भी खींच सकता है पर क्षण-क्षण में नवीन से प्रतिभासित होने वाले अन्तः सौन्दर्य के चित्रोपम प्रस्तुतीकरण में विरले ही निसर्गतः प्रतिभाशाली कवि सक्षम होते हैं, अतएव कहा जाता है कि प्रकृतिगत अथवा मानवगत अन्तः सौन्दर्य के निरीक्षण में जिस कवि की दृष्टि जितनी अधिक गहराई तक उतर सकेगी उसके कवित्व में उतनी ही अधिक गहरी महनीय विशेषता होगी, अतएव कविता का साफल्य अन्तः सौन्दर्य चित्रण में ही माना जाता है, वाह्य सौन्दर्य निरूपण में नहीं।

नीलाम्बर की नीलिमा को, यत्किञ्चित् तरङ्गायमान नद नदी तथा समुद्रों के जलों को, पल्लवित पादयों एवं कुसुमित लताओं को, भ्रमरों की गुञ्जार एवं कोकिल की काकली को तो सभी लोग देखते सुनते आये हैं और देखने और सुनते भी रहेंगे, पर जल तरंगों से उदीयमान कल-कल में कौन सी संगीत लहरी है? भ्रमरों की गुञ्जार एवं कोकिल की काकली में क्या संकेत है, पल्लवित एवं कुसुमित लतायें कौन सा सन्देश लाती हैं, और चन्द्रिका चर्चित नभोनीलिमा का क्या उद्देश्य है? इस सब का रहस्य उद्घाटन करने वाला ही सच्चा कवि होता है। इसी प्रकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानवीय अन्तः करण का भी रहस्य है। मानव के हृदय में क्षण भर में अनेक भावों का उदय एवं विलीनीकरण होता रहता है। कभी-कभी उसकी दया एवं सहानुभूति क्षण भर में ही प्रेम का रूप धारण कर लेती है, और घृणा क्षण भर में ही भक्ति और श्रद्धा का स्थान ले लेती है, और क्षणान्तर में ही उसके हृदय से सभी उदात्त भावों को छोड़कर

क्रूर एवं कठोर वन जाता है। इन सब अन्तस्-भावों का सकारण चित्रण करने वाला ही सच्चा मूलतः कवि कहा जा सकता है, और ऐसे कवि की कविता ही उत्तम कोटि के काव्य की अधिकारिणी कही जा सकती है।

न केवल भाव ही भाषा भी काव्य कौशल का निदर्शन है, सरल से सरल, सरस, मधुर, कोमल कान्त पदावलीवलित भाषा में अभिव्यक्त भाव जितना अधिक प्रभावोत्पादक, अन्तस्तलस्पर्शी एवं सद्यः हृदय ग्राही होता है उतना कृत्रिम, अलंकृत, समासान्त क्लिष्ट पदावलीवलित भाषा में कदापि नहीं। काव्य-रचना का उद्देश्य स्वानुभूतियों को सर्व साधारण तक पहुँचाना होता है जिससे कि वे झटिति हृदयग्राही वन सकें, न कि भाषा का पाण्डित्य प्रदर्शन। समधिक अलंकार प्रियता एवं भाषा की शाब्दी क्रीड़ा तथा पाण्डित्य प्रदर्शन, सरस मधुर भावों की अभिव्यञ्जना के वीच कर्कशता ही उत्पन्न करते हैं, मधुरता नहीं और भावों की हृदय ग्राहिता में वाधा ही उत्पन्न करते हैं, अतः कोमल कान्त पदावली के माध्यम से अभिव्यक्त भाव व रस ही सफल काव्य के उपकरण माने जाते हैं।

इन भावों और भाषा में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये शैली की स्वाभाविकता भी अपेक्षित रहती है, विना प्रासादिक एवं नैसर्गिक शैली के भाषा और भावों में सामञ्जस्य नहीं लाया जा सकता है। अन्तस-भावों की अभिभ्यक्ति के लिये व्यञ्जनात्मक शैली ही उत्तम मानी गई है, यही शैली ही भावों की अभिव्यक्ति की साधिका हो सकती है। अतः भाव और भाषा के साथ साथ शैली की प्रासादिकता एवं व्यञ्जनात्मकता भी अपेक्षित रहती है।

इस प्रकार के भाव, भाषा और शैली के परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाय तो कालिदास और उनके पूर्ववर्ती काव्यों में हमें निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगत होंगी—

कलापक्ष की उत्कृष्टता के साथ साथ इस युग के काव्यों में भावपक्ष की ही प्रधानता है और प्राधान्यतः अन्तः सौन्दर्य चित्रण पर ही विशेष आस्था दृष्टिगत होती है, यदि कहीं अप्रस्तुत विधान या अलंकारों की सहज सुन्दर सज्जा भी प्रस्तुत की गई है तो वह केवल अन्तः सौन्दर्य के स्फुटीकरण के लिये, भावों में तीव्रता एवं प्रभावोत्पादकता लाने के ही लिये है, न कि

अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये अथवा पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये।

इस युग का कवि पहले विदग्ध है और तब विद्वान जो काव्य के अन्तस्तल की परख कर सके, प्रकृति-उपकरणों के और मानव के अन्तस् में प्रवेश कर सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन कर सके एवं समुचित तथा सरस काव्यो पकरणों द्वारा भावों की अभिव्यक्ति कर सके वही कवि विदग्ध कवि कहा जाता है। इस युग के कवि का उद्देश्य विदग्धता का परिचय देना है। न कि पाण्डित्य प्रदर्शन करना, जैसा कि हम उत्तरकालीन कवियों में देखते हैं।

कालिदास और उनके पूर्व युगीन काव्यों में रसानुभूति भावानुभूति तथा विदग्धता है। इनमें वह मधुरता और रसपेशलता है जो कि पाठक को सद्यः रस विभोर कर देने की अपूर्व क्षमता रखती है। इनमें कवियों की सूक्ष्म दृष्टि है, भावों की मधुरता एवं रस प्रवणता है, मनो वैज्ञानिकता एवं हृदय ग्राहिता है, वह भाव-प्रधान सरस एवं रमणीक है। प्रमुख रस शृङ्गार है, कहीं कहीं कुछ काव्यों में वीर रस भी है शेप रसो का अंग रूप में यथा स्थान अभिव्यक्तीकरण है। भापा सरल मधुर बोधगम्य एवं प्रवाह-मयी है। उसे प्रयास साध्य अलंकारों द्वारा अलंकृत करने या श्लेषों द्वारा दुरुह बनाने का प्रयत्न नहीं है। प्रासादिक एवं व्यञ्जनात्मक शैली है, प्रायः वैदर्भी रीति का ही प्रयोग है।

यद्यपि काव्य कला का प्रथम अवतार तो प्रकृति के उन्मुक्त वातवरण में आश्रमों में ही हुआ था पर इसका अभ्युदय एवं विकास राजाश्रय में ही हुआ है। प्राचीन काल में काव्य कला को प्रोत्साहन देने वाले नृपतिजन ही थे, इन्हीं का आश्रय पाकर काव्य कला विकसित हुई थी। संस्कृत कवि प्रायः धनीजनों एवं राजाओं के ही आश्रय में रहे हैं अतः इस युग के काव्यों में राजसी वातावरण का होना स्वाभाविक ही हैं। सरस्वती के वरद पुत्र महाकवि कालिदास को भी विक्रमादित्य के आश्रय में ही अपनी भारती के विकास का अवसर मिल सका था। वाण आदि महाकवियों की काव्य कला के विकास का श्रेय भी हर्पवर्धन जैसे उदार कला प्रेमी नृपतियों को ही है। राजशेखर की काव्य मीमांसा में ऐसे राजाश्रित अनेक कवियों एवं उनके आश्रयदाता राजाओं का उल्लेख है। वस्तुतः तत्कालीन राजदरबार

भारतीय कला संस्कृति एवं सभ्यता के केन्द्र थे। नृपति जन स्वयं उद्भट विद्वान कला प्रेमी एवं कवियों के आश्रय दाता थे। इस प्रकार सरस्वती एवं लक्ष्मी से सम्पन्न ये नृपतिजन ही प्रायः इस युग के काव्यों के नायक भी थे। ऐसी स्थिति में रचित काव्य राजसी वातावरण से मुक्त कैसे रह सकता था। यद्यपि राजदरबारी भी कवि की वाणी में स्वच्छन्दता है तथापि वह राजदरबारी स्वर सर्वथा नहीं छोड़ सकी है। इन काव्यों में वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित मधुर भावनाओं के चित्र मिलते हैं, राजाओं की विलासप्रियता, मृगया, विवाह, स्वयम्वर, सन्तति, युद्ध, उपवनविहर जलक्रीड़ा आदि का विस्तृत वर्णन है पर साथ ही आश्रमों, ऋषियों, यज्ञानुष्ठानों, तप, दान आदि का भी उतना ही सुन्दर वर्णन है। प्रकृति का प्राधान्यतः आलम्बन रूप में वर्णन है। ऐसे वातावरण में रचित इस युग के काव्यों में भावों की उदात्तता, व्यवहार की शिष्टता, भाषा की प्राञ्जलता एवं व्यावहारिकता, शब्दों की अग्राम्यता मनोवैज्ञानिकता, शैली की प्रासादिकता एवं व्यञ्जनात्मकता के साथ साथ कवि हृदय की विदग्धता दर्शनीय है।

यद्यपि इन काव्यों की रचना राजसी वातावरण में हुई थी तथापि इनमें जनसाधारण के मनोभावों की उपेक्षा नहीं की गई है। इन काव्यों में सर्वत्र जनसाधारण के मनोभावों का, दीन हीन जनों की मानसिक प्रवृतियों का, समय समय पर उठने वाले और विलीन होने वाले भावों का तथा इन की दशाओं का चित्रण भी देखने को मिलता है। कवि ने जितनी तन्मयता के साथ राजाओं की सुधाधवलित गगन चुम्बी अट्टालिकाओं का चित्रण किया है उसने उतनी ही सहृदयता के साथ वनाश्रमों की तृणमण्डपिकाओं का भी चित्रण किया है। इन काव्यों में जहाँ एक ओर राजाओं की विलासिता मृगया आदि के चित्र है वहाँ दूसरी ओर आश्रमों के तथा आश्रयवासो ऋषियों वटुजनो एवं तपस्वियों के तपोऽनुष्ठानों के परमोज्ज्वल चित्र हैं। वन्य पशुओं और पक्षिओं का भी उतना ही स्वाभाविक वर्णन है जितना कि राजा के गजराजों अश्वों सेनाओं आदि का वर्णन है। तात्पर्य यह कि राजदरबारों में रहने वाले भी ये कवि जनसामान्य की प्रकृतियों से उदासीन न थे। अतएव इस युग के कवियों ने इनके जीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुये इनकी सामयिक मनोवृत्तियों का, आकांक्षाओं का, इनके दारिद्रय

एवं सहज उद्वेगों का भी बड़ी तन्मयता एवं सहानुभूति के साथ वर्णन किया है। स्पष्ट है कि ये दरबारी कवि राजदरबारों में ही बन्द रहने वाले न थे अपितु उन्होंने स्वयं उन्मुक्त प्रकृति के प्राङ्गण में आकर प्रकृति के अन्त: सौन्दर्य का तथा मानव मात्र की मनोवृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। कालिदास के काव्यो में पशुओं एवं पक्षियों के स्वाभाविक चित्रण तथा आश्रमों के एवं तत्रत्य ऋषिजनों के जीवन दर्शन के वर्णन इस कथन के साक्षात् निदर्शन हैं। इन काव्यों के ग्रामों, नदियों, समुद्रों, पर्वतों, आश्रमों, कृषि क्षेत्रों, गोपालो, गायों, वन्य पशुओं के वर्णन इसमें प्रमाण हैं। यह सत्य है कि इस युग के कवि राजाश्रय में रहने वाले थे पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इन कवियों ने जनजीवन को देखा ही न था। यह भी नहीं कि सर्वत्र इस युग के काव्यों के नायक नृपति जन ही हों, मेघदूत में धनपति द्वारा शप्त एक साधारण से यक्ष की विरह वेदना का स्वाभाविक चित्रण है। इसी प्रकार के अनेक वर्णन इन काव्यों में मिलते हैं जोकि इस बात के परिचायक है कि इस युग के राजदरबारी भी काव्यो में जनसामान्य का जीवन भी उतनी ही सहृदयता के साथ चित्रित हुआ है जितनी कि तन्मयता के साथ राजसी जीवन। राजदरबारी भी इन काव्यों की पृष्ठ भूमि प्रकृति ही है जो कि सर्वत्र सजीव एवं मानव की चिरसंगिनी है। वस्तुत: इन काव्यों का सौन्दर्य प्रकृति सौन्दर्य ही है और इनका जीवन तपोमय जीवन है। रस ही इन काव्यों की आत्मा है।

कालिदासोत्तर कालीन काव्यों की सामान्य विशेषतायें

कालिदास और अश्वघोष के बाद के महाकाव्यों का कथानक रामायण अथवा महाभारत से लिया गया है। यह अतिलघु भी कथानक अतिशयोक्ति पूर्ण एवं अतिरञ्जित वर्णनों द्वारा अति विस्तृत कर दिया गया है। इन काव्यों में शृङ्गार रस का ही प्राधान्य है, सरस सरल एवं प्रासदिक पदावलीविशिष्ट भाषा के स्थान पर इन काव्यो की भाषा क्लिष्ट समासान्त पदावलीसमन्वित एवं अलंकृत है। इन काव्यों का उद्देश्य मधुर व्यञ्जना न होकर काव्य का वाह्य चमत्कार, अलंकार प्रियता, श्लेषमयी शब्द योजना, शाब्दीक्रीड़ा एवं पाण्डित्य प्रदर्शन है। विदग्धता के स्थान पर कोरी विद्वत्ता का प्रदर्शन है। सरलता के स्थान पर क्लिष्टता, मधुर व्यञ्जना के स्थान पर शब्दों की बाजीगरी और असम्भाव्य

कल्पनाओं की ऊँची उड़ानें है। इन काव्यों में अलंकृत भाषा के प्रयोग में, व्याकरण तथा अलंकार शास्त्रों के नियमों के परिपालन में तथा प्रयत्न साध्य अधिक से अधिक अलंकारों के कौशल प्रदर्शन द्वारा भाषा को सजाने में हः कविकर्म की इयत्ता मान ली गई है। इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण ही इन काव्यों का विषय तो गौण हो गया है पर कला का चमत्कार ही प्रधान बन गया है। हृदय पक्ष का स्थान कलापक्ष ने ले लिया है। अलंकार एवं व्याकरण शास्त्र के नियमों में पूर्णतया आवद्ध रहने के कारण कवि स्वच्छन्दता पूर्वक अपने हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति नहीं कर सका है। कोई शब्द भूल कर भी पाणिनि व्याकरण की परिधि से बाहर नहीं जा सका है और न अलंकार शास्त्र का कोई भी नियम छूट सका है, सब का यथावत् पालन किया गया है। शृङ्गार चित्रण करते समय काम शास्त्र का कोई भी चित्र ओझल नहीं हो सका है। इन शास्त्रों द्वारा अब तक जो नियम निर्धारित किये जा चुके थे, इन काव्यों में उनका पूर्ण रूप से अक्षरशः पालन किया गया है। न अप्रचलित एवं दुरुह शब्दों के प्रयोग की कमी है और न पौराणिक संकेतों का ही संकोच है। दर्शन शास्त्र, आयुर्वेद एवं ज्योतिष्, संगीत आदि के परिज्ञान का भी यत्र तत्र प्रदर्शन है। इन्हीं प्रदर्शनों में उलझे रहने के कारण, तथा काव्य के वाह्यचमत्कार को ही काव्य का सर्वस्व समझ लेने के कारण एतत्कालीन कवियों के काव्यों में न तो वह स्वाभाविकता है, और न वह नवीनता, एवं सरलता ही है जो कालिदासयुगीन काव्यों में देखी जाती है। कला प्रदर्शन के मोहजाल में आवद्ध हो जाने के कारण ही ये कवि, काव्य के मुख्य प्रयोजन रसाभिव्यक्ति से विमुख हो गये हैं अतएव इन काव्यों में गम्भीर वैदुष्य एवं उर्वर कल्पनाओं के होते हुये भी वह प्रासादिकता एवं मधुरता नहीं मिलती जो कालिदास के काव्यों में देखी जाती है, फलतः इन काव्यों में सूक्तियाँ ही अधिक है उत्कृष्ट कवित्व नहीं देखा जाता है। प्रकृति प्रायः उद्दीपन रूप में ही चित्रित हुई है, प्रकृति के अन्तः सौन्दर्य निरीक्षण की क्षमता इन कवियों में नहीं देखी जाती। राजाश्रित कवियों द्वारा रचित होने के कारण इन काव्यों में तत्कालीन राजाओं की विलासिता एवं कृत्रिमता की स्पष्ट छाप है। जहाँ कालीदासकालीन काव्य का लक्ष्य जन साधारण के अनुरञ्जन के साथ-साथ लोक शिक्षा भी था वहाँ इन काव्यों में केवल विद्वज्जनानुरञ्जन एवं स्वकीय बहुज्ञता तथा पाण्डित्य

प्रदर्शन मात्र ही रह गया है। केवल विद्वज्जनानुरञ्जन के उद्देश्य से रचित इन काव्यों में वैदर्भी रीति के स्थान पर प्रायः सर्वत्र पाञ्चाली समास बहुला श्लेषमयी रीति का ही प्राधान्य है। विद्वज्जनों के हृदयावर्जन के उद्देश्य से लिखे जाने के कारण ही इन काव्यों में रसमयी प्रासादिक पद्धति को छोड़कर दुर्बोध शैली को अपनाया गया है और कामशास्त्र सम्बन्धी विवेचनाओं को लेकर कल्पना के बहुरंगे चित्र खींचे गये हैं। तथा इन वर्णनों में संयोग वियोग के विलासमय जीवन की आकर्षक झांकी प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार की शैली के प्रथम आचार्य हैं महाकवि भारवि और उन के अनुकर्ता हैं महाकवि माघ, श्री हर्ष आदि।

इस शैली में रचित काव्यों में नैसर्गिकता के स्थान पर सर्वत्र कृत्रिमता के ही दर्शन होते हैं। इस प्रकार के काव्य कभी आदर्श काव्य नहीं कहे जा सकते भले ही ये तत्कालीन विद्वज्जनों का हृदयावर्जन करते हों, क्योंकि इनमें प्रायः सर्वत्र अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, कल्पनाओं की ऊँची उड़ान, प्रयत्न-साध्य अलंकारों की सज्जा, नये-नये शब्दों के श्लेषमय तथा विरोधमय प्रयोग, शास्त्रज्ञता तथा विद्वत्ता का प्रदर्शन, एवं क्लिष्ट कल्पना का ही प्राचुर्य है, न तो भावानुभूति तथा रसानुभूति है और न कोमल कान्त मनोहारिणी पदावली ही है। यही कारण है कि महाकवि भारवि द्वारा आरब्ध इस शैली को आचार्य कुन्तक ने विचित्रमार्ग कहा है। इसी अलंकृत शैली में कालिदासोत्तर कालीन सभी काव्य लिखे गये हैं। माघ ने तथा इनके पूर्ववर्ती कवि भट्टि एवं कुमारदास आदि ने भी इसी शैली को अपनाया है।

महाकवि माघ का स्थिति काल

यद्यपि संस्कृत साहित्य के मनीषी आत्म परिचय तथा अपने स्थिति काल के विषय में सदा से ही उदासीन रहे है, उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी आत्म परिचय नहीं दिया है, अतः उनके समय और जीवन चरित के विषय में इदमित्त्थम् रूप से तो कुछ कहना कठिन ही है तथापि कुछ अन्तः और कुछ वाह्य साक्ष्य के आधार पर उनका समय एवं जीवन चरित निश्चित करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में कुछ मत भेद है तथापि उनसे किसी तथ्य पर अवश्य पहुँचा जा सकता है।

महाकवि माघ ने अपने शिशुपाल वध नामक महाकाव्य के अन्त में अपना वंश परिचय देते हुये इस प्रकार लिखा है—

सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्री वर्मलाख्यस्य बभूव राज्ञः।
असक्त दृष्टि विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा ॥१॥
काले मितं तथ्य सुदर्क पथ्यं तथागतस्येव जनः सचेताः।
विनानुरोधात् स्वहितेच्छयैव महीपतिर्यस्य वचश्चकार ॥२॥
तस्याभवद् दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदु धर्मपरस्तनूजः।
यं वीक्ष्य वैयास मजातशत्रो र्वचो गुणग्राहि जनैः प्रतीये ॥३॥
सर्वेण सर्वाश्रय इत्यनिन्द्य मानन्द भाजा जनितं जनेन।
यश्च द्वितीयं स्वयमद्वितीयो मुख्यः सतां गौण मवाय नाम ॥ ४ ॥
श्री शब्दरम्यकृत सर्गसमाप्तिलक्ष्म,
लक्ष्मी पतेश्चरित कीर्तन मात्र चारु।
तस्यात्मजः सुकवि कीर्तिदुराशयादः,
काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम् ॥ ५ ॥

इन श्लोकों से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि महाकवि माघ के पितामह श्री सुप्रभ देव श्री वर्मल नामक किसी राजा के महामन्त्री थे। श्री सुप्रभदेव का राजसभा में अच्छा सम्मान था और राजा पर भी उनका अच्छा प्रभाव था। राजा उनके परिमित सत्य एवं हितकारी वचनों को उसी प्रकार सुनता था और तदनुकूल ही कार्य करता था जैसे लोग भगवान बुद्ध के उपदेश सुनते थे। इन्हीं सुप्रभ देव के दत्तक नामक पुत्र हुआ जो गुणवान् उदार क्षमाशील मृदूभाषी कोमल स्वभाव एवं धर्म परायण था। उनके गुणों से सन्तुष्ट हुये लोगों ने, उनकी दीन दुखियों को आश्रय देने की प्रकृति के कारण, उनको 'सर्वाश्रय' की उपाधि से भूषित किया था। इन्ही दत्तक के पुत्र माघ महाकवि थे जिन्होंने शिशुपालवध नामक महाकाव्य का प्रणयन किया है।

महाकवि माघ के इस वंश वर्णन से केवल इतना ही जाना जा सकता है कि इनका जन्म एक सम्पन्न शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था और माघ काव्य के अध्ययन तथा अनुशीलन से यह भी जाना जा सकता है कि अपनी वंश परम्परानुरूप माघ को भी व्याकरण, साहित्य, राजनीति, इतिहास, पुराण,

दर्शन, आयुर्वेद ज्योतिष् आदि की उच्च शिक्षा दी गई थी, क्योंकि उनके काव्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्हें इन सभी विषयों का अच्छा ज्ञान था। पर इस से महाकवि माघ के समय एवं जीवन वृत्त के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता।

'प्रभावक चरित' में महाकवि माघ को गुर्जर देश के श्री माल नगर का निवासी बतलाया गया है तथा इनके पिता मह 'सुप्रभदेव' एवं पिता 'दत्तक' का भी वहाँ उल्लेख है, और सुप्रभदेव को वर्मलात राजा का प्रधानामात्य भी बतलाया गया है—

अस्ति गुर्जरदेशोऽन्य सज्जराजन्य बुर्जरः।
श्री मालमित्यस्ति पुरं मुखमिव क्षितेः॥
....
....
नृपः श्री वर्मलाताख्यः..............................
....
....
....
....
श्री माघो नन्दनः ....
शिशु पालवधं काव्यं प्रशस्ति र्यस्य शाश्वती।

इससे यह ज्ञात होता है कि महाकवि माघ गुजरात के श्रीमाल नगर के निवासी थे उन्होंने शिशुपालवध नामक महाकाव्य की रचना की थी। कुछ इस महाकाव्य की हस्तलिखित प्रतियों में भी—"इति श्री भिन्नमाल वास्तव्य दत्तक सूनो र्महावैयाकरणस्य "माघस्य" कृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये" ऐसा लिखा हुआ देखा जाता है जिससे यह सिद्ध होता है कि महाकवि माघ भिन्न माल के रहने वाले दत्तक के पुत्र महावैयाकारण थे इन्होंने ही शिशुपालवध महाकाव्य की रचना की थी। पर इससे भी उनके समय के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता।

विद्वानों ने इनके स्थिति काल को सप्तम शतक के उत्तरार्ध से लेकर नवम शतक के उत्तरार्ध तक माना है। डा० कीथ, डा० गौरीशंकर, हरीचन्द ओझा, डा० एस० के० डे, श्री भोलाशंकर व्यास, श्री बल्देव उपाध्याय, आदि विद्वान् माघ का स्थिति काल सप्तम शतक का उत्तरार्ध मानते हैं और श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय, पं० छज्जूराम शास्त्री तथा प्रो० के० वी० पाठक अष्टम शतक मानते हैं। इसी प्रकार मैकडानेल, बेवर, म० म० श्री दुर्गाप्रसाद आदि विद्वान् इनका समय नवम शतक मानते हैं। श्री आर० सी० दत्त इनका समय १२ वां शतक मानते हैं।

स्पष्ट है कि माघ के स्थितिकाल के विषय में बड़ा मत भेद है। शिशुपाल वध के अन्तिम श्लोकों में उल्लिखित वर्मल, वर्मलात, तथा धर्मनाम, धर्मलाभ, वर्मनाभ आदि अन्य नामों से जो कि भिन्न-भिन्न हस्तलिपियों में प्राप्त होते हैं, किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता क्योंकि इन नाम वाले राजाओं के विषय में कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिलता। इन श्लोकों की "काले मितं तथ्य मुदर्क पथ्यं तथा गतस्येव जनः सचेताः" पंक्ति से यह भी ज्ञात होता है कि माघ के पूर्वजों के समय भारत में बौद्ध धर्म को अधिक सम्मान था और लोग इस धर्म की ओर अधिक रुचि रखते थे, परन्तु यह भी कवि के समय निर्धारण में सहायक नहीं हो सकता। अतः कुछ वहिरंग प्रमाणों तथा कुछ अन्तरंग संकेतों से ही इनके समय के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

(१) आचार्य आनन्द वर्धन (नवम शतक का मध्यभाग) ने अपने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में 'शिशुपाल वध' के "रम्या इति प्राप्तवती पताका' तथा "त्रासाकुल परिपतन् इत्यादि" दो श्लोकों को उद्धृत किया है।

(२) नृप तुङ्ग (नवम शतक) ने अपने "कविराज मार्ग" नामक ग्रन्थ में माघ का उल्लेख किया है।

(३) आचार्य वामन (अष्टम शतक) ने अपने "काव्यालंकार में माघ के "उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ" श्लोक को उद्धृत किया है।

(४) सोमदेव ने (दशम शतक) अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में माघ का उल्लेख किया है।

(५) इन के बाद के राजशेखर ने, धनपाल, (तिलक मञ्जरी)

मेरूतुङ्गाचार्य, (प्रवन्ध चिन्तामणि) वल्लाल (भोज-प्रवन्ध) प्रभाचन्द्र (प्रभावक चरित्र) तथा भोजदेव एवं क्षेमेन्द्र ने भी माघ का उल्लेख किया है। इस से स्पष्ट है कि माघ का समय अष्टम शतक के उत्तरार्ध से बाद का नहीं हो सकता। इस प्रकार इनकी अपर सीमा निश्चित हो जाने के बाद इनकी पूर्व सीमा निर्धारण के लिये वर्मलात का शिला लेख प्रमाण है। डा० कीलहार्न ने राजस्थान के वसन्त पुर नामक स्थान पर वर्मलात राजा का एक शिला लेख प्राप्त किया था जिसका समय ६२५ ई० है, यह समय माघ के पितामह सुप्रभदेव का है इनके पौत्र माघ का समय लगभग ६०-७० वर्ष बाद का हो सकता है अतः माघ के समय की पूर्व सीमा सप्तम शतक का उत्तरार्ध' मानी जा सकती है।

इन वाह्य साक्ष्यों के अतिरिक्त कुछ अन्तः साक्ष्य भी हैं। 'शिशुपाल वध' के द्वितीय सर्ग में राजनीति वर्णन प्रसंग में माघ ने यह श्लोक लिखा है।

अनुत्सूत्र पदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निवन्धना ।
शब्द विद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥२।११२॥

मल्लिनाथ ने वृत्ति शव्द की व्याख्या करते हुये-काशिकाख्य सूत्रव्याख्यान ग्रन्थ विशेषः अर्थात् 'काशिका वृत्ति' जिसकी रचना जयादित्य वामन ने ६५० ई० में की थी। तथा 'न्यास' पद की व्याख्या करते हुये-वृत्ति व्याख्यान ग्रन्थ विशेषः—अर्थात् काशिका वृत्ति पर रचित न्यास नामक ग्रन्थ-लिखा है। परन्तु 'न्यास' शब्द के अर्थ में मतभेद है। प्रो० पाठक न्यास पद से जिनेन्द्र बुद्धि कृत काशिका की 'न्यास' नामक टीका-अर्थ ग्रहण करते हैं जिसकी रचना लगभग ७०० ई० में हुई थी। इस आधार पर तो माघ का समय अष्टम शतक में सिद्ध होता है किन्तु कुछ विद्वान् प्रो० पाठक के इस मत को स्वीकार नहीं करते उनका कथन है कि जिनेन्द्र बुद्धि के पहले भी कई न्यास नामक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, स्वयं जिनेन्द्र बुद्धि ने ही कई न्यास ग्रन्थों का उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त वाण ने भी, जिनका समय ६२० ई० निश्चित है, अपने हर्ष चरित में "कृत गुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि" पङ्क्ति में न्यास ग्रन्थ का उल्लेख किया है अतः माघ द्वारा निर्दिष्ट न्यास ग्रन्थ जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यास ग्रन्थ नहीं हो सकता अपितु इस से पूर्व के किसी न्यास ग्रन्थ की ओर उनका संकेत है। अतः इस आधार पर माघ को हम जिनेन्द्र-

बुद्धि (७०० ई०) के बाद का नहीं मान सकते। जिनेन्द्रबुद्धि निश्चयतः वाण से अर्वाचीन हैं क्योंकि वे एक बौद्ध विद्वान् थे किन्तु इत्सिग ने जो कि ६६१ से ६९५ तक भारत में रहा था, अपने यात्रा विवरण में जिनेन्द्र का उल्लेख नहीं किया है जिनेन्द्र का समय ६९५ ई० के बाद का ही हो सकता है। अतः सिद्ध है कि माघ द्वारा निर्दिष्ट न्यास ग्रन्थ जिनेण्द्र बुद्धि का न होकर इनसे पूर्ववर्ती किसी आचार्य का है। जिनका उल्लेख वाण ने भी किया है।

इस विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माघ के समय की पूर्व सीमा ६५० ई० तथा उत्तर सीमा ७०० ई० हो सकती है अतः माघ का स्थिति काल ६५० ई० के बाद ७०० ई० के मध्य अर्थात् ६७५ ई० के लगभग माना जाना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

जीवन वृत्त

महाकवि माघ एक सुशिक्षित धनाढ्य ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। 'प्रभावक चरित' के अनुसार महाकवि माघ गुजरात के श्री माल नगर के निवासी थे, कुछ हस्तलिखित प्रतियों में श्री माल के स्थान पर भिन्न माल नाम मिलता है। हो सकता है कि भिन्नमाल या भिनमाल ही कालान्तर में श्रीमाल नाम से प्रसिद्ध हो गया हो। यह श्रीमाल नाम नगर राजस्थान व गुजरात की सीमा पर स्थित है। श्रीमाल नगर के निवासी होने के कारण यहाँ के ब्राह्मण श्री माली कहे जाते हैं, ये आज भी राजस्थान और गुजरात में पाये जाते हैं। महाकवि माघ भी इस दृष्टि से श्रीमाली ब्राह्मण ही रहे होंगे। पर डा० भोलाशंकर व्यास का कथन है कि राजस्थान के पार्वत्य प्रदेश डूगरपुर वांसवाड़ा नगर ही माघ का निवास स्थान था, पर व्यास जी ने इस सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं दिया है अतः भिन्न माल नगर ही इनका निवास स्थान होना उचित जान पड़ता है।

माघ के पिता का नाम दत्तक तथा पिता मह का नाम सुप्रभदेव था। धनाढ्य परिवार के होने के कारण माघ को विविध शास्त्रों के अध्ययन का अच्छा अवसर मिला था, अतएव ये वेद, पुराण, शास्त्र, दर्शन, राजनीति, आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण, सांख्य योग मीमांसा बौद्ध दर्शन, अश्व विद्या,

हस्ति विद्या, संगीत, काम शास्त्र, अलंकार शास्त्रादि के विशेष ज्ञाता थे। इनके महाकाव्य में इन सभी विषयों का यत्र तत्र संकेत मिलता है।

माघ एक उत्कृष्ट गम्भीर विद्वान् थे। उनके व्यक्तित्व में कवि और विद्वान् दोनों का ही अभूत पूर्व समन्वय था। माघ कवि को हस्त लिखित प्रतियो में महा वैया करण कहा गया है जिससे स्पष्ट है कि वे व्याकरण शास्त्र में पारङ्गत थे, बहुत कम कवियों में इस प्रकार का समन्वय देखने को मिलता है। उनकी रचना में व्याकरण के सूक्ष्म नियमों के अनुसार बनने वाले ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग है जो कि अप्रचलित एवं साधारण कवियों की पहुंच के बाहर हैं।

धनाढ्य होने के साथ माघ उदार दानी भी थे, इन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति को दान में दे डाला था और स्वयं अन्त में निर्धन हो गये थे पर याचक सदा इन्हें घेरे रहते थे, राजसभाओं में इनका बड़ा सम्मान था, तत्कालीन राजाओं पर इनके कवित्व का प्रभाव था।

'भोज प्रबन्ध' के अनुसार महाकवि माघ गुर्जर देश वासी और बड़े दानी थे। दान देकर जब ये निर्धन हो गये और इनके पास याचकों को देने के लिये कुछ न रह गया तब इन्होंने अपनी पत्नी को एक पत्र देकर राजा भोज की राज सभा में भेजा, पत्र में यह एक श्लोक लिखा था—

कुमुदवन मपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं,
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदय महिमरश्मि र्याति शीतांशुरस्तं,
हत विधि निहतानां हा विचित्रो विपाकः॥

राजा ने इन श्लोक से प्रसन्न होकर उनकी पत्नी को बहुत सा धन दिया जब वह धन लेकर लौट रही थी, मार्ग में तब उसने याचकों से माघ की दान प्रशंसा का गुणगान सुन कर प्रसन्न होकर सब धन उन याचकों को दे दिया। माघ के पूंछने पर उसने कह दिया कि राजा द्वारा प्रदत्त समस्त धन उसने याचकों को दे दिया है माघ ने उसको साधुवाद दिया किन्तु उन्होंने कहा कि यदि और याचक आते हैं तो उन्हें क्या दिया जायेगा उनको इसी चिन्ता में निमग्न तथा दीनावस्था में देख कर याचकों ने कहा—

आश्वास्य पर्वतकुलं तपनोष्ण तप्त–
मुद्दाम दाव विधुराणि च काननानि ।
नाना नदीनद शतानि च पूरयित्वा,
रिक्तोऽसि यज्जलद ! सैव तवोत्तमा श्रीः ।।

अपनी इस धनहीन अवस्था से दुःखी होकर माघ कवि ने कहा—

अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा,
त्यागे रतिं वहति दुर्ललितं मनो मे ।
याञ्चा च लाघवकरी स्ववधे च पापं,
प्राणाः स्वयं व्रजत किन्नु विलम्बितेन ।।

भोज प्रबन्धकार लिखते हैं कि माघ कवि की ऐसी दशा देख कर याचक लौट गये और उनको निराश लौटता देखकर माघ ने कहा—

व्रजत व्रजत प्राणाः अर्थिनि व्यर्थतां गते,
पश्चादपि हि गन्तव्यं क्व सार्थः पुनरीदृशः ।।

इतना कह कर माघ कवि ने प्राणों का त्याग दिया । इसी प्रकार का लेख प्रबन्ध चिन्तामणि में भी मिलता है । पर भोज प्रबन्ध का यह कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस प्रकार का उल्लेख किसी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ में नहीं मिलता । इससे इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि माघ कवि पहले धनवान थे पर समस्त धन दान कर देने के बाद वे दरिद्र हो गये थे । और ज्योतिषियों के कथनानुसार उनकी मृत्यु भी निर्धनावस्था में होनी चाहिये थी, अतः वह इस दरिद्रावस्था में ही परलोकगामी भी हुये होंगे । इससे यह प्रतीत होता है कि माघ का शैशव एवं यौवनकाल बड़े वैभवपूर्ण एवं विलास पूर्ण वातावरण में व्यतीत हुआ होगा, क्योंकि यदि ऐसा वातावरण उन्हें न मिला होता और उन्होंने उसका स्वयं अनुभव न किया होता तो न तो वे इतने बड़े दानी होते और न शिशुपाल वध में इतने उत्तेजक विलास वर्णन ही कर पाते । वीररस प्रधान एवं लक्ष्मी पतेश्चरित कीर्तन मेव चारू भी इस महाकाव्य में इतने उत्तेजक विलासमय वर्णन हैं कि कहीं वे अश्लीलता तक पहुँच गये हैं । ऐसा वर्णन कोई भुक्त भोगी ही कर सकता था ।

शिशुपाल वध का रचयिता

शिशुपाल वध महाकाव्य के रचयिता महाकवि माघ ही थे। इस महाकाव्य का यह नाम अर्थात् शिशुवध यह नाम, इस महाकाव्य की वर्णनीय घटना के आधार पर अर्थात् शिशुपाल के वध रूप फल को लक्ष्य कर के शिशुपाल वध रखा गया है, पर महाकवि के नाम पर इसे माघ काव्य भी कहा जाता है और इसका यही नाम अधिक प्रचलित भी है। इस सम्बन्ध में याकोवी महोदय का यह कथन कि शिशुपाल वध महाकाव्य की रचना किसी माघ उपाधिधारी अज्ञात कवि द्वारा की गई थी, सर्वथा भ्रान्ति पूर्ण है, क्योंकि अब तक महाकवि माघ के विषय में पर्याप्त जानकारी मिल चुकी है, स्वयं कवि ने अपना वंश परिचय दिया है। माघ उपाधि नहीं, कवि का नाम ही था, इस नाम की व्युत्पत्ति कई विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और इसका अर्थ निर्धारित किया है। डा० मनमोहन लाल ने कल्पना की है कि माघ कवि का जन्म, माघ महीने की पूर्णिमा तिथि को या मघा नक्षत्र में हुआ था अतएव उनका नाम 'माघ' रखा गया था अथवा मा (लक्ष्मी) से 'घ' ताडित होने के कारण अर्थात् निर्धन होने के कारण इन्हें माघ नाम दिया गया था, पर ये सब कपोल कल्पनायें ही हैं, माघ अपने उत्तर काल में दानातिशय के कारण ही लक्ष्मी से विरहित हुये थे वैसे वे बड़े धनाढ्य परिवार में उत्पन्न हुये थे और उत्पन्न होने के बाद ही इनका यह नाम रखा गया था। वस्तुतः मा अघः विद्यतेऽस्मिन्नसौ माघः अर्थात् निष्कलमप या निर्दोष यह व्युत्पत्ति अवश्य सार्थक है क्योंकि शिशुपाल वध महाकाव्य 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तन मात्रचारु' तो है ही साथ ही वह कवित्व दृष्टि से एक उत्कृष्ट एवं निर्दोष काव्य भी है अतः माघ के नाम के विषय में उक्त व्युत्पत्ति ही सार्थक जान पड़ती है। अतः शिशुपाल वध किसी माघ उपाधिधारी अज्ञात कवि की रचना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त *शिशुपाल वध के १९ वें सर्ग में एक चक्रबन्ध है, इस चक्र के तृतीय गोलक से 'माघकाव्य मिदम्' और षष्ठ गोलक से 'शिशुपाल वधः' वाक्य बनता है इससे स्पष्ट है कि महाकवि माघ ने अपने नाम एवं अपनी कृति को सुरक्षित रखने की ही दृष्टि से सम्भवतः यह चक्रबन्ध लिखा हो। इसके अतिरिक्त माघ कवि को उनकी एक सुन्दर कल्पना के कारण 'घण्टामाघ' की उपाधि भी मिली थी।

* शिशुपाल वध के चतुर्थ सर्ग का बीसवाँ श्लोक है।

"उदयति विततोर्ध्वं रश्मि रज्जा वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्वि घण्टाद्वय परिवारित वारणेन्द्र लीलाम् ॥"

अर्थात् एक ओर सूर्य उदय हो रहा है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त हो रहा है, इन दोनों के एक साथ उदय और अस्त के समय दोनों के बीच में स्थित रैवतक पर्वत, दोनों ओर लटकते हुये दो घण्टाओं से सुशोभित गजराज के समान शोभित हो रहा था ।" इसी श्लोक के आधार पर माघ कवि को घण्टामाघ की उपाधि मिली थी । इन सबसे यह स्पष्ट है कि शिशुपाल वध किसी अज्ञात कवि की रचना न होकर वह संस्कृत साहित्य की अनुपम विभूति महाकवि माघ की ही रचना है ।

कुछ विद्वानों की यह कल्पना है कि जिस प्रकार इनके पूर्ववर्ती भारवि ने अपनी प्रतिभा की प्रखरता सूचित करने के लिये अपना नाम भारवि (सूर्य का तेज) रखा था उसी प्रकार माघ कवि ने अपने को भारवि को भी ठण्डा करने वाला अपना नाम माघ रखा था जिस प्रकार माघ मास में सूर्य किरणें शीत के कारण ठंढी लगने लगती हैं उसी प्रकार माघ कवि को पढ़ने के वाद भारवि का काव्य मन्द पड़ जाता है । पर यह एक मन गढ़न्त वात ही है इसमें कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, वस्तुत: दोनों कवियों के ये दोनों नाम ही थे इन नामों से किसी प्रतिस्पर्धा का संकेत नहीं मिलता, यद्यपि यह सत्य है कि माघ कवि के आदर्श भारवि ही थे, और शिशुपाल वध के रचयिता का नाम माघ ही था, क्योंकि शिशुपाल वध के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'इति माघ कृतौ शिशपाल वधे महाकाव्ये' लिखा मिलता भी है । अत: शिशुपाल वध के रचियता के विपय में कोई सन्देहास्पद वात नहीं है ।

महाकवि माघ द्वारा रचित केवल एक यही महाकाव्य है इनकी कोई दूसरी रचना अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सकी है । यद्यपि सूक्ति संग्रहो में माघ के नाम से अनेक स्फुट पद्य मिलते हैं, नहीं कहा जा सकता कि वे इन्हीं माघ कवि द्वारा रचित है अथवा एतन्नामधारी किसी अन्य कवि द्वारा रचित हैं पर इनका कोई दूसरा ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है । कुछ भी हो इनकी यही एक कृति इनके नाम को अमर वनाये रखने के लिये पर्याप्त है । संस्कृत वृहत्त्रयी का यह महाकाव्य प्रमुख काव्य है । माघ की प्रतिभा विद्वत्ता एवं

बहुज्ञता प्रशंसनीय है और इन में पाण्डित्य तथा कवित्व का अपूर्व समन्वय है ।

शिशुपाल वध महाकाव्य का कथा स्रोत

शिशुपाल वध महाकाव्य की कथा का मूल स्रोत महाभारत है। यद्यपि महाभारत के अतिरिक्त श्री मद्भागवत, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, अग्नि पुराण आदि में भी शिशुपाल की कथा वर्णित है, इन पुराणों में यह कथा संक्षेप रूप ही में है पर महाभारत में शिशुपाल वध की कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। महाभारत के सभापर्व में यह कथा ३३ से ४५ अध्यायों तक अर्थात् १३ अध्यायों में वर्णित है। अन्य पुराणों में कुछ हेर फेर के साथ संक्षेपतः इसका वर्णन है। महाभारत में यह कथा एक सामान्य कथा के रूप में वर्णित है। महाकवि माघ ने अपना कथा सूत्र यहीं से ग्रहण किया है पर कवि ने अपनी उर्वर कल्पना एवं आलंकारिक वहुविध वर्णनों द्वारा, स्थित्यनुकूल नये परिवर्तनों एवं नई-नई उद्भावनाओं द्वारा इसे एक महाकाव्य का रूप प्रदान किया है। इस प्रकार महाभारत में वर्णित कथा में और इस महाकाव्य की कथा में पर्याप्त अन्तर हो गया है। महाभारत में वर्णित कथा का संक्षेप यह है।

महर्षि नारद जब एक बार इतस्ततः विचरण करते हुये पाण्डव सभा में पहुँचे और पाण्डवों ने उनका यथोचित सत्कार कर उच्चासन पर विठाया तब प्रसन्न मना महर्षि ने युधिष्ठिर को राज सूय यज्ञ करने का परामर्श दिया। नारदजी के चले जाने पर युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ विचार विमर्श कर श्री कृष्ण को बुलाने के लिये दूत भेजा, भगवान् श्री कृष्ण ने आकर कहा कि पहिले जरासन्ध का वध कीजिये तदनन्तर राजसूय यज्ञ कीजिये। भगवान् श्री कृष्ण के परामर्श के अनुसार तथा उनके द्वारा बतलाई गई युक्ति के द्वारा भीमसेन जरासन्ध का वध किया और फलत. राजसूय यज्ञ प्रारम्भ किया गया। यज्ञ में ब्राह्मणों के पाद प्रक्षालन का कार्य भगवान् ने स्वयं अपने ऊपर लिया। यज्ञ में प्रथम अर्घ्य सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को दिया जाना था अतः भीष्म के कथनानुसार इस प्रथम अर्घ्य के अधिकारी भगवान् श्री कृष्ण को मनोनीत किया गया इससे शिशुपाल अतिक्रुद्ध होकर भगवान् श्री कृष्ण भीष्म और युधिष्ठिरादि को अपशब्दों द्वारा अपमानित करने

लगा । भगवान् श्री कृष्ण चुपचाप सुनते रहे, युधिष्ठिरादि की विनम्र प्रार्थना का भी उस पर कोई प्रभाव न पड़ा और वह श्री कृष्ण के लिये अपशब्दों का प्रयोग करता हुआ यज्ञ के विध्वंस के लिये प्रस्तुत हो गया । तब भगवान् श्री कृष्ण ने कहा कि मैंने इसकी माता की प्रार्थना पर इसे जो वचन दिया था कि मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूंगा वह अब पूरा हो गया है । यह कह कर भगवान् श्री कृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र से समस्त राजाओं के देखते ही देखते राजसभा में ही उसका वध कर दिया ।

महाभारत की इतनी ही मूल कथा को लेकर कवि ने अनेक परिवर्तनों एवं अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा इसको अधिक सरस एवं रोचक बनाकर अपने काव्य के २० सर्गों तक इसका विस्तार किया है । महाभारत के सामान्य कथा के आधार फलक पर यह कलात्मक चित्र प्रस्तुत किया है । मूल कथा में कविकृत परिवर्तनों एवं मौलिक उद्भावनाओं को इस प्रकार देखा जा सकता है ।

(१) महाभारत में तो नारद जी इधर उधर घूमते हुये पाण्डवों की सभा में पहुँचते हैं पर शिशुपाल वध महाकाव्य के प्रथम सर्ग में नारद जी इन्द्र का सन्देश लेकर द्वारिका पुरी में आकाश से उतरते हैं श्री कृष्ण और नारद जी में वार्तालाप होता है और नारद जी इन्द्र के सन्देश के अनुसार श्री कृष्ण को शिशुपाल के वध के लिए प्रेरित करते हैं । कवि को यह मौलिक उद्भावना है, तथा कवि जो नारद जी वे आकाश उतरने का अत्यन्त कवित्व पूर्ण नारद जी के आकाश उतरने का अत्यन्त कवित्व पूर्ण मनोहर वर्णन किया है वह स्वाभाविक एवं सहृदय हृदयावर्जक है ।

(२) द्वितीय सर्ग में कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा एवं राजनीतिपटुता का परिचय देते हुये जो श्री कृष्ण ओर बलराम तथा उद्धव के बीच विवाद कराया है, वह कवि की मौलिक उद्भावना तो है ही, साथ ही वह कवि के राजनीति विषयक प्रकाण्ड पाण्डित्य का भी परिचायक है । वस्तुतः राजनीति का इतना विशद विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है ।

(३) शिशुपाल वध के तृतीय से लेकर द्वादश सर्गों तक कवि ने जो नगर वर्णन, ऋतु वर्णन, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, मधुपान, सुरत क्रीड़ा, प्रभात, सेना प्रयाण आदि का वर्णन किया है ये सब वर्णन मूल कथा से कोई साम्य

नहीं रखते, ये सब कविकृत मूल कथा में परिवर्तन तथा कवि की मौलिक उद्भावना के परिचायक हैं। इन्हीं आलंकारिक अतिरञ्जित एवं अति-विस्तृत वर्णनों द्वारा महाकाव्य के कलेवर को बढ़ाया गया है अथवा अलं-कार शास्त्र के नियमों के परिपालनार्थ इन वर्णनों का समावेश किया गया है। अलंकार शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट नियमों के अनुसार एक महाकाव्य में ऐसे वर्णन आवश्यक भी हैं।

(४) त्रयोदश सर्ग में श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ की ओर जाना तथा पाण्डवों द्वारा उनका स्वागत किया जाना वर्णित है, यहाँ कवि ने नर-नारियों द्वारा श्रीकृष्ण को देखने के लिये प्रदर्शित उत्सुकता का बड़ा ही सरस एवं भव्य वर्णन किया है।

(५) चतुर्दश सर्ग में राजसूय यज्ञ के वर्णन प्रसंग में कवि ने अपनी दार्शनिकता का परिचय दिया है। इससे कवि का मीमांसा दर्शन तथा कर्मकाण्ड विषयक गम्भीर ज्ञान परिलक्षित होता है। यहाँ भी कवि की अपनी मौलिकता है।

(६) १५ वें से २० वें सर्ग तक के कथानक में महाभारत की कथा से पर्याप्त अन्तर हो गया है। क्योंकि महाभारत में तो राजसूय यज्ञ के अवसर पर जब यह प्रश्न उठता है कि सर्व प्रथम किसकी पूजा की जाय तब भीष्म के परामर्श से श्रीकृष्ण को इसके लिये चुना जाता है और फलतः जब सहदेव श्रीकृष्ण को अर्घ्य देकर सम्मानित करने लगते हैं तभी भीष्म पितामह से शिशुपाल का विवाद खड़ा हो जाता है यह यहाँ तक बढ़ता है कि शिशुपाल शिष्टता को छोड़कर सभा मण्डप में ही श्रीकृष्ण को अप-मानित करने के लिए उनसे लगातार अपशब्दों का प्रयोग करता है और अन्त में वह उन्हें युद्ध के लिए भी ललकारता है तब श्रीकृष्ण तत्रत्य राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मैंने जो इसकी माता को इसके सौ अपराध क्षमा करने का वचन दिया था वह अब पूरा हो चुका और अब मैं इसे मारता हूँ यह कर उन्होंने वहीं सुदर्शन चक्र से उसका वध कर दिया।

पर शिशुपाल वध के कथानक में इन अन्तिम सर्गों में कवि ने एक सर्वथा नवीन कथानक की सृष्टि की है। १९ वें सर्ग में सर्व प्रथम श्रीकृष्ण

की पूजा को देखकर और अपने को इससे अपमानित समझकर शिशुपाल राजसभा से उठकर चला जाता है और युधिष्ठिर भीष्म तथा श्रीकृष्ण की निन्दा करता है। षोडश सर्ग में पाण्डवों और शिशुपाल के बीच सन्देशों का आदान प्रदान होता है परन्तु पाण्डवों के शान्तिमय वचनों को वह अस्वीकार कर श्रीकृष्ण के पास वह अपना दर्प पूर्ण सन्देश भेजता है। सप्तदशसर्ग में शिशुपाल के दूत के सन्देश को सुनकर अति क्षुब्ध होकर यदुवंशी युद्ध के लिए प्रस्तुत होते हैं वे उसके आह्वान के उत्तर में युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं। अष्टादश सर्ग में दोनों पक्षों की सेनाओं के एकत्र होने पर दोनों ओर से तुमुल संग्राम आरम्भ हो जाता है। एकोनविंश सर्ग में श्रीकृष्ण और शिशुपाल के बीच युद्ध होता है और अन्तिम सर्ग में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध कर दिया जाता है। यह सब इन सर्गों का कथानक माघ का अपना है, महाभारत की कथा से इसका अतिपार्थक्य है। पर इन अन्तिम सर्गों में कवि ने युद्ध का विशद स्वाभाविक एवं रोमाञ्चकारी वर्णन किया है जो कि कवि कुशल प्रतिमा एवं मौलिकता का परिचायक है। इस प्रकार के परिवर्तन से महाभारत की एक सामान्य कथा को नई स्फूर्ति एवं नूतन जागृति प्राप्त हुई है। वस्तुतः वीर रस के परिपाक के लिये जो कि इस महाकाव्य का अंगी रस है, कवि को ऐसा करना आवश्यक भी था, यदि ऐसा परिवर्तन न किया गया होता तो कथानक में पूर्ण शैथिल्य आ जाता और कवि की युद्ध वर्णन चातुरी तथा वीर रस की अभिव्यक्ति परिलक्षित न हो पाती। महाकाव्यकार को स्थित्यनुकूल कथानक में परिवर्तन एवं परिवर्धन करने का अधिकार है और प्रायः सभी महाकाव्यकार ऐसा करते रहे हैं। इतिहास और ऐतिहासिक काव्य में यही अन्तर होता है। कवि के लिए ऐसा करना सर्वथा उचित माना जाता है।

कथानक (प्रथम सर्ग)

एक बार नारद जी इन्द्र का सन्देश लेकर भगवान् श्रीकृष्ण के पास द्वारिकापुरी में आये। नारद जी को आया हुआ जानकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अति प्रसन्न होकर उनका यथोचित सत्कार किया तथा उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपने को उनके दर्शन से कृतार्थ माना। जब नारद जी स्वस्थ चित्त होकर अपने आसन पर बैठ गये तब भगवान् श्रीकृष्ण ने

विनम्रता तथा शिष्टता पूर्वक उनसे उनके आगमन का कारण पूछा। इन्द्रदेव का सन्देह वतलाते हुये नारद जी ने कहा कि दैत्यादि दुष्टजन सदैव सज्जनों को अकारण ही पीड़ित करते रहे हैं और आपने सदा ऐसे जगद् द्रोहियों का वध करके सज्जनों की रक्षा की है। जब हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने भूतल को पाताल में छिपा दिया था तव आपने ही बाराह अवतार धारण कर उसका वध करके पृथिवी का उद्धार किया था। इसी प्रकार जब हिरण्यकशिपु ने स्वर्ग तक को उत्पीडित किया तथा देवताओं को भी भयभीत कर दिया था तब भी आपने नृसिंह अवतार धारण कर उसका वध किया था। मरने के बाद उसने रावण राक्षस के रूप में जन्म धारण कर शिव से वरदान प्राप्त कर और महाशाली वनकर स्वर्ग तक में अशान्ति फैला दी थी, उसके डर से इन्द्र भी भयभीत होकर उल्लूक की तरह पर्वत कन्दराओं में छिप गये थे उसने सभी देवताओं एवं देवाङ्गनाओं को बन्दी बना रखा था, उस समय भी आपने ही राम अवतार धारण कर वन प्रदेश से सीता का अपहरण करने वाले उस रावण का वध किया था। इस समय वही रावण शिशुपाल के रूप में जन्म लेकर अपने पूर्व स्वभाव के अनुसार पुनः जगत् को पीडित कर रहा है, वह अपने को रावणादि से भी अधिक बलवान् समझता है, समस्त पृथिवी पर उसका आतङ्क छाया हुआ है, आप उसका भी वध कर सज्जनों को शान्ति प्रदान करें, यही देवराज इन्द्र का सन्देश है, नारद जी की बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसके वध के लिये नारद जी को आश्वस्त किया और नारद जी स्वर्ग धाम को लौट गये।

शिशुपाल वध महाकाव्य के कवित्व की समीक्षा

संस्कृत महाकाव्यों की रचना में द्विविध शैली देखीं जातीं है—प्रथम प्रकार की शैली को रस पद्धति तथा दूसरी को अलंकृत पद्धति कहा जाता है। आदि कवि वाल्मीकि से आरम्भ होकर महाकाव्य की पद्धति को अपनाया गया है वह रसमयी शैली कही जाती है। इसमें सर्वत्र सरलता प्रासादिकता मधुरता एवं स्वाभाविकता देखी जाती है। इस युग के सभी काव्य वैदर्भी रीति में लिखे गये हैं, इनमें भाव पक्ष का प्राधान्य है पर कलापक्ष को भी समुचित स्थान दिया गया है। परन्तु कालिदासोत्तर कालीन काव्य

एक नई पद्धति को लेकर जिसे हम अलंकृत पद्धति कहते हैं, लिखे गये हैं। इस अलंकृत शैली के प्रवर्तक महाकवि भारवि हैं जिन्होंने सर्व प्रथम अपने महाकाव्य किरातार्जुनीयम् में इस अलंकृत शैली को अपनाया है। इस अलंकृत पद्धति में लिखे गये काव्यों में रसाभिव्यक्ति एवं भावाभिव्यक्ति के स्थान पर आलंकारिक चमत्कार देखने को मिलता है, भाषा की सरलता एवं मधुरता के स्थान पर इन काव्यों में शब्दों की सजावट और शाब्दी क्रीडा देखी जाती है, कला पक्ष ही इन काव्यों में प्रधान है, हृदय पक्ष की तो कहीं-कहीं ही झलक मिलती है। कवित्व की मधुरता एवं प्रासादिकता तथा स्वाभाविकता के स्थान पर इन काव्यों में पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति देखी जाती है। इस युग का कवि पहले विद्वान् है और तब विदग्ध। कोमल कान्त पदावली के स्थान पर समास बहुला एवं श्लेषमयी भाषा का प्रयोग है। एक अति लघु कथा को लेकर वर्णन विस्तार के द्वारा उसे एक विशाल महाकाव्य का रूप प्रदान किया गया है। यद्यपि इस अलंकृत शैली के जन्मदाता भारवि हैं तथापि इसका समुचित विकास माघ के द्वारा हुआ है। मध्ययुग की सभी रचनाओं में यही शैली दृष्टिगत होती है, महाकवि माघ इस शैली के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः काव्य गुणों की दृष्टि से उनके महाकाव्य की समीक्षा इस प्रकार की जा सकती है—

वस्तुसंघटना

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है शिशुपाल वध का कथानक महाभारत के सभापर्व से लिया गया है, पर कवि ने, अपनी मौलिक उद्भावनाओं, सामयिक सूझ बूझ, एवं अपनी अप्रतिम कल्पना शक्ति के द्वारा, इसमें अनेक परिवर्तन किये हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, वस्तुतः कवि ने महाभारत की कथा वस्तु का अपनी रुचि के अनुरूप परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन एवं संक्षेप करके उसको एक सर्वथा नये संस्करण के रूप में प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत महाकाव्य की वस्तु संघटना पर विचार करते समय सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि जिस महाभारतीय कथा के आधार पर इस महाकाव्य की रचना की गई है, क्या यह कथा महाकाव्य के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं। वस्तुतः महाभारत की जिस अति संक्षिप्त कथा के आधार पर कवि

ने एक विशाल २० सर्गात्मक महाकाव्य की रचना की है, वह कथा महा-काव्य के लिये उपयुक्त नहीं है, क्योंकि एक तो वह कथा अति संक्षिप्त है और दूसरी बात यह कि उसमें जीवन के सभी क्षेत्रों का संश्लिष्ट वर्णन नहीं है जो कि महाकाव्य के लिये आवश्यक है। इसमें महाकाव्य के नायक श्री कृष्ण के जीवन की एक छोटी सी घटना को ही अनावश्यक एवं अप्रासङ्गिक वर्णन विस्तार से सजा कर एक विशाल काय महाकाव्य का रूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है। यदि इस महाकाव्य के उन लम्वे लम्वे सुविस्तृत वर्णनों को जिनसे कि आधे से अधिक महाकाव्य भरा पड़ा है, हटा दिया जाय तो यह कथानक अत्यन्त संक्षिप्त दिखलाई पड़ेगा जो कि एक खण्ड काव्य के लिये उपयुक्त है, महाकाव्य के लिये कदापि नहीं, क्योंकि एक खण्ड काव्य में मानव जीवन के किसी एक ही मार्मिक अंश का वर्णन किया जाता है अतः यदि यह कहा जाय कि कथायोजना एवं वस्तु संघटना में कवि असफल रहा है और उसके कथा सूत्र के विकास में शैथिल्यरहा है तो कोई अत्युक्ति न होगी।

परन्तु इतना होते हुये भी,यह देखना आवश्यक है कि माघ जैसे उच्च-कोटि के महाकवि में यह दोष कैसे आया। इसकेलिये प्रथम कारण तो यही बताया जा सकता है कि शिशुपाल वध महाकाव्य का आधार भारवि का किराता-र्जुनीय महाकाव्य रहा है। अतः इसमें भी जाने अनजाने वे सभी दोष आ गये हैं जो किरातार्जुनीय में देखे जाते हैं। कथा विकास में जो शैथिल्य भारवि में देखा जाता है वही माघ में भी है। भारवि में भी अनेक लम्बे-लम्वे वर्णनों की भरमार से कथासूत्र विकसित नहीं हो सका है, माघ में भी यही दोष है। इतना ही नहीं माघ ने तो अपने को, इस वर्णन चातुरी में और अधिक उत्कृष्ट दिखाने के लिये, इतने सुविस्तृत अतिरञ्जित वर्णन किये हैं कि वे कथावस्तु के विकास में स्पष्टतया बाधक बन गये हैं। यद्यपि माघ ने कथा का आरम्भ बड़े ही नाटकीय मनोरञ्जन कौशल से किया है और द्वितीय सर्ग तक उसका अच्छा विकास भी हो सका है, पर तृतीय सर्ग से अतिरञ्जित वर्णनों में तत्पर होकर कवि ने कविता कामिनी को अलंकारों से तथा अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनों से बोझिल बना दिया है, वह मूल कथा को एक ओर रखकर इधर उधर से प्रासङ्गिक एवं अप्रासङ्गिक वर्णनों

में इतना खो गया है कि कथा का प्रवाह पूर्णतया अवरुद्ध हो गया है। यह सम्भवतः इसलिये हुआ है कि कवि अपने वर्णन चातुर्य के चमत्कार दिखाने एवं पाण्डित्य प्रदर्शन करने के लोभ का संवरण नहीं कर सका है। सच तो यह है कि यदि कवि ऐसा न करता तो वह २० सर्गों तक अपने काव्य का कलेवर कैसे बढ़ा पाता। यही कारण है कि कवि ने वस्तु के सन्तुलन की ओर विशेष ध्यान न देकर वर्णनों की ओर ही विशेष ध्यान दिया है। और तेरहवें सर्ग तक इसी प्रकार का वर्णन विस्तार किया है, चौदहवें सर्ग से पुनः कथासूत्र आगे बढ़ सका है। कुछ भी हो महाकाव्य की दृष्टि से यह दोष पूर्ण अवश्य है।

पर आश्चर्य यह कि जिस कथावस्तु की सम्बन्धनिर्वाहकता के औचित्य को स्वयं कवि ने अपने महाकाव्य में स्वीकार किया है, उसी का वह सफलता पूर्वक निर्वाह नहीं कर सका है माघ ने स्वयं कहा है :—

वह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्ण मभिधीयते।
अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥

अर्थात्, यद्यपि स्वेच्छानुसार वहुत सी असंगत बातें कही जा सकती हैं। तथापि एक ऐसे सुसम्वद्ध कथन या कृति को कहना कठिन है जिसमें पदार्थों की संगति भंग न होती हो।

आलोचकों ने इस कथावस्तु संघटना के शैथिल्य के कई कारण वतलाये हैं उन कारणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि माघ कवि के लिये ऐसा करना अर्थात् सुविस्तृत एवं अतिरञ्जित वर्णनों का समावेश कर काव्य कलेवर में वृद्धि करना अधिकाधिक अलंकारों की सज्जा प्रस्तुत करना एवं पाण्डित्य प्रदर्शन करना आवश्यक हो गया था।

(१) माघ उस समय के कवि थे जव कि इसी प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ एवं रुढियाँ प्रचलित हो चुकी थी। अलंकार शास्त्रों का, जिनमें कि काव्य नियमों का उल्लेख था और उनका पालन करना कवि के लिये आवश्यक था, निर्माण हो चुका था और विद्धज्जन इसी प्रकार के काव्यों में रुचि लेने लगे थे। लक्षण ग्रन्थों में यह निर्देश किया गया था कि एक महा काव्य में नगर, प्रासाद, उपवन, नदी, समुद्र, पर्वत, सरोवर, सूर्योदय, चन्द्रोदय, प्रभात, संग्राम, विवाह, यात्रा, उत्सव, मृगया, जलक्रीड़ा, विहार,

आदि का वर्णन करना आवश्यक है। वही साहित्यकार समाज में प्रशंसास्पद माना जाता था जोकि विदग्ध होने के साथ साथ विद्वान् भी हो, अतएव माघ जैसे कवि को भी अपने युग के अनुरूप तथा तत्कालीन समाज की रुचि के अनुरूप उपर्युक्त सब बातों का अपने काव्य में समावेश करना पड़ा है, फलतः कवि का ध्यान सम्बन्ध निर्वाह की ओर न होकर तत्कालीन युग प्रवृत्तियों एवं आलंकारिक मान्यताओं की परम्पराओं के निर्वाह की ओर अधिक रहा है।

(२) कथावस्तु दो प्रकार की होती हैं आधिकारिक और प्रासङ्गिक। आधिकारिक कथावस्तु का साक्षात् सम्बन्ध नायक तथा काव्य के फल या उद्देश्य के साथ होता है, पर प्रासङ्गिक कथावस्तु का सम्बन्ध नायक के अतिरिक्त किसी अन्य से रहता है जोकि परम्परया काव्य के उद्देश्य से सम्बन्ध रखता है। इस महाकाव्य में शिशुपाल के वध की कथा ही आधिकारिक कथा है जिसका सम्बन्ध नायक और काव्य के उद्देश्य से है और अनेक प्रासङ्गिक वर्णनों द्वारा उस आधिकारिक कथा का विस्तार किया गया है अतएव सभी प्रासङ्गिक वर्णनों का सम्बन्ध परम्परया आधिकारिक कथा से है अतः इतना ही कहा जा सकता है कि ये वर्णन आवश्यक होते हुये भी कुछ विस्तृत अधिक हो गये हैं।

(३) काव्य दो प्रकार के होते हैं—(१) व्यक्तिप्रधान जैसे रामायण बुद्ध चरित आदि, (२) घटना प्रधान। व्यक्तिप्रधान काव्यों में तो कवि की दृष्टि व्यक्ति के जीवन की समस्त मुख्य घटनाओं पर रहती है किन्तु घटना प्रधान काव्यों में कवि-दृष्टि किसी एक मुख्य घटना पर होती है और कवि का समस्त वस्तु विन्यास केवल उसी एक घटना विशेष पर केन्द्रित रहता है। माघ काव्य घटना प्रधान है और इसकी मुख्य घटना शिशुपाल का वध है और यह वध ही काव्य का मुख्य प्रयोजन या साध्य है। इसमें वर्णित सभी प्रासङ्गिक वृत्त, काव्य प्रयोजन भूत शिशुपाल वध से परस्परया सम्बन्ध रखते हैं और वे ही काव्य के साध्य के लिये साधनरूप हैं।

भारतीय काव्य परम्परा के अनुसार काव्य का उद्देश्य प्रयोजन या साध्य महत्वपूर्ण होना चाहिये जो कि नैतिक एवं सामाजिक उत्थान में सहायक हो सके इस महाकाव्य का साध्य एक महत्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि शिशुपाल

का बध एक महत्वपूर्ण कार्य है । शिशुपाल, विधाता के शासन को उल्लंघित करने वाला हैं, अशुभाचारवान् एवं उत्पीडक है अतः सज्जनों द्वारा उसका वध करना शास्त्र दृष्टि से कोई अपराध नहीं है । अतः शिशुपाल के वध से सज्जनों पर क्रूरतादि दोष नहीं लग सकते जैसा कि कवि ने स्वयं कहा हैं—

तदेन मुल्लङ्घितशासनं विधे र्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्;
शुभेतरा चार विपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सता मसाधवः ।

इतना होते हुये भी प्रवन्ध काव्य की इतिवृत्त निर्वाहकता में माघ कवि को सफल नहीं कहा जा सकता है, वे आधिकारिक कथा एवं आनुसङ्गिक वर्णनों के वीच सन्तुलन नहीं रख सके हैं । यह ठीक है कि काव्य में रसात्मकता लाने के लिये कवि कथा प्रवाह के बीच में कुछ ऐसे मार्मिक स्थलों का वर्णन करता है कि जिनमें पाठक की रागात्मिका वृत्ति रम सके और उसे काव्यानन्द प्राप्त हो सके अन्यथा केवल मुख्य कथा का वर्णन इतिवृत्त मात्र होकर नीरसता उत्पन्न करेगा पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि मुख्य कथा को छोड़कर प्रासङ्गिक एवं सुविस्तृत अतिरञ्जित वर्णनों की इतनी भरमार कर दी जाय कि उससे कथासूत्र ही विच्छिन्न होकर अलग पड़ जाय और पाठक इन अतिरञ्जित वर्णनों की चकाचौंध में पड़ कर काव्य के मुख्य प्रयोजन रसानुभूति से वञ्चित रह जाय । सभी कवियों ने कथा प्रवाह के वीच कुछ ऐसे वर्णन किये हैं जो कि रसात्मिकता लाने में सहायक हो सके हैं पर वहाँ उनका इतना विस्तार नहीं किया गया है, काव्य नियमानुसार अत्यावश्यक होने पर ही ऐसे प्रसंगों को लाया गया है । प्रत्येक कवि विभिन्न वस्तुओं का वर्णन करके मानव हृदय को भावमग्न करने की चेष्टा करता है अथवा पात्रों द्वारा भाव व्यञ्जना कराकर पाठकों को रसानुभूति कराता है, पर उसका उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन या बहुज्ञता प्रदर्शन कदापि नही होता जैसा कि हम माघ काव्य में पाते हैं, माघ के कुछ ही वर्णन उचित और अवसरोपयोगी अवश्य हैं पर शेष अनावश्यक तथा पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र के लिये है जो कि कथा प्रवाह में साधक न होकर वाधक ही कहे जा सकते है । अतः कहा जा सकता है कि महाकवि माघ सम्वन्ध निर्वाह में असफल ही रहे हैं ।

माघ का प्रकृति चित्रण

शिशुपाल वध में आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण उतना नहीं है जितना कि उद्दीपन के रूप में अथवा अलंकार विधान के रूप में किया गया है। जहाँ कहीं स्वतन्त्र रूप में प्रकृति का चित्रण भी किया गया है वहाँ उसे अलंकारों से इतना वोझिल वना दिया गया है कि प्रकृति का सुन्दर चित्र धुँधला पड़ गया है फिर भी कहीं कहीं यह वर्णन वहुत ही सुन्दर वन पड़ा है, कहीं कहीं तो प्रकृति सम्वन्धी उनके ये शव्द चित्र वहुत ही मनोरम और अनुपम है, रैवतक पर्वत पर प्रातः कालीन शोभा का यह एक ऐसा चित्र है जैसा कि अन्यत्र न मिलेगा—

उदयति विततोर्ध्व रश्मिरज्जा वहिम रुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्,
बहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वय परिवारितवारणेन्द्र लीलाम् । ४ ।२०

अर्थात् एक ओर तो ऊपर की ओर फैली हुई रज्जुरुपी किरणों वाला सूर्य उदित हो रहा है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त हो रहा है। इस स्थिति में रैवतक पर्वत उस गजराज के समान शोभा पा रहा है जिसके दोनों ओर दो घण्टे लटक रहे हो।

माघ की यह कल्पना अनुपम है। इस अद्वितीय कल्पना के कारण ही माघ को 'घण्टामाघ' भी कहा जाने लगा है "इसी प्रकार कवि ने द्वादश सर्ग में भी प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन किया है जहाँ कवि ने ग्रामीण जनों एवं खेतों का भी सुन्दर चित्रण किया है। प्रभात वर्णन का एक यह भी मनोरम चित्र हैं—

वितत पृथुवरत्रातुल्य रूपै र्मयूरवैः,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।
कृतचपलविहङ्गालाप कोलाहलाभि
र्जलनिधिजल मध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥११।४४

अर्थात् समुद्र के जल से निकलता हुआ प्रातः सूर्य ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह एक विशाल जल कलश हो, जिसे मानो पक्षियों के कलरव रूप में कोलाहल करती हुई दिशा रूपी गोपिकायें, वड़ी-बड़ी रस्सियों रूपी किरणों से, समुद्र के जल से बाहर निकाल रही हों। [illegible] हुये भी कल्पना बहुत ही सुन्दर है। प्रातः काल ग्रामीण स्त्रियाँ जब कुयें पर जल

भरने के लिये एकत्रित होती हैं तव वे कोलाहल के बीच घड़ों में भर कर और घड़े को रस्सी में बाँध कर जल निकालती हैं। यहाँ प्रस्तुत श्लोक में मानों सूर्य ही घट है और प्रातः कालीन पक्षियों का कलरव ही तत्कालीन कोलाहल है। किरणें मानो रस्सियाँ हैं जिसमें बाँध कर घड़े को ऊपर निकाला जा रहा है। दिशायें ही जल भरने वाली स्त्रियाँ हैं।

प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोप करना विदग्ध कवियों की विशेषता रही है। संस्कृत कवियों ने सदा ही प्रकृति को सजीव एवं मानव की सहचरी के रूप में चित्रित किया है, शृङ्गारी कवियों में तो यह मानवीकरण की प्रवृत्ति और भी अधिक प्रकट रूप में दृष्टिगत होती है। माघ ने अपने प्रकृति-चित्रण में प्रकृति का इस रूप में बड़ा ही हृदयग्राही दृश्य उपस्थित किया है। नदियाँ पर्वत पुत्रियाँ ही कही जाती हैं क्योंकि वे पर्वतों से ही निकलती हैं, पर्वतों से निकल कर वे समुद्र में मिलतीं हैं। समुद्र और नदियों की पति पत्नी रूप में परिकल्पना कवि परम्परा भुक्त रही ही है। माघ ने रैवतक पर्वत से निकल कर समुद्र में मिलने जाती हुई नदियों के विषय में चित्रण किया है कि रैवतक पर्वत की ये पुत्रियाँ जो कि अब तक अपने पिता की गोदी में निःशंक भाव से खेलती रहतीं थीं अब अपने पति समुद्र से मिलने जा रहीं हैं, अतः अपनी पुत्रियों के वियोग से पिता का हृदय पक्षियों के कलरव के रूप में मानो करुण क्रन्दन कर रहा है। पर्वतों पर पक्षियों का कलरव होना भी स्वाभाविक ही है—

अपगत शङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिता—
श्चलिता पुरः पतिमुपैतु मात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पक्षिणां
विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥

प्रकृति मानव जीवन की सहचरी है, वह उसके सुख में सुखिनी एवं दुःख में दुःखिनी होती है इसी प्रकार उसके सुख दुःख का प्रभाव भी मानव पर पड़ता है, प्रायः कवियों ने प्रकृति के सुख दुःखात्मक चित्रों के द्वारा मानव के सुख दुःखमय पक्षों का स्थान स्थान पर चित्रण किया है। माघ ने भी एक ऐसा ही चित्र प्रस्तुत किया है। भाग्य का विलसित बड़ा ही विचित्र होता है, कहीं कोई आनन्द से क्रीड़ा कर रहा है तो कहीं कोई

अपार दुःखों से अभिभूत होकर कराह रहा है, सुख दुःख की इस परिवर्तनशीलता का कारण दुर्दैव की क्रीड़ा ही है। प्रभात का चित्र प्रस्तुत करते हुये माघ ने लिखा है "प्रभात की बेला में एक ओर तो कुमुदवन मुर्झाने के कारण शोभा विरहित हो रहा है और दूसरी ओर कमल वन विकसित हो रहा है। एक ओर उलूक सूर्य के प्रकाश को देखकर दुःखी हो रहा है तो दूसरी ओर चक्रवाकों के जोड़े एक दूसरे से मिल कर आनन्दित हो रहे हैं। एक ओर जहाँ भगवान् भास्कर उदित हो रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर चन्द्रविम्ब अपनी चन्द्रिका समेट कर अस्ताचल चूड़ावलम्वी हो रहा है। सच है प्रतिकूल भाग्य के दुष्परिणाम से प्रभावित जीवों का बड़ा ही विचित्र फल होता है। माघ के यद्यपि सभी प्रकृति चित्र उद्दीपनात्मक एवं अलंकारों के बोझ से बोझिल लगते हैं तथापि कुछ चित्र प्रकृति के आलम्बन रूप को भी मोहक ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

इसी प्रकार के अनेक प्राकृतिक चित्र माघ की रचनाओं में देखे जा सकते हैं, ऐसा प्रतीप होता है कि प्रकृति चित्रण का अवसर प्राप्त करने के ही लिये माघ ने रैवतक पर्वत पर सेना का पड़ाव डालने का उपक्रम रचा है। महाकाव्य के लिये प्रकृति चित्रण अनिवार्य माना जाता है, इसीलिये इस परम्परा का निर्वाह करने के लिये कवि ने यहाँ रुक कर प्रकृति का वर्णन किया है, पर इनके प्रकृति चित्रण में उद्दीपक रूप ही अधिक दृष्टिगत होते हैं, कालिदास जैसा स्वाभाविक प्रकृति चित्रण यहाँ नहीं देखा जाता है।

कालिदास और माघ

इसमें तो कोई सन्देह ही नही कि कालिदास प्रकृति के अनन्य उपासक हैं। उनके काव्य का आरम्भ ही प्रकृति चित्ररण से होता है और उनके सभी काव्यों एवं नाटको में प्रकृति का रम्य रूप ही दृष्टिगत होता है। कालिदास के कवित्व को प्रकृति के परिवेष से पृथक कर नहीं देखा जा सकता है, माघ भारवि आदि कवियों पर भी कालिदास के प्रकृति चित्रण का प्रभाव अवश्य पड़ा है पर उनमें जो प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है तथा प्रकृति का भव्य आलम्बनात्मक उदात्त चित्र हैं वे माघ आदि कवियों में नहीं आ पाये हैं, ये कवि प्रकृति के अनुकर्ता मात्र ही रहे है प्रकृति के प्रवीण पुरोहित नहीं।

माघ का प्रकृति चित्रण केवल परम्परा पालनार्थ ही प्रतीत होता है इसी लिए उन्होंने अपने स्वाभाविक कथा प्रवाह को रोक कर रैवतक पर्वत पर एक अच्छा अवसर पाकर इस परम्परा का भी निर्वाह कर दिया है, पर षडऋतु वर्णन सहित यद्यपि प्रकृति का विस्तृत वर्णन माघ ने प्रस्तुत किया है फिर भी उनमें वह स्वाभाविकता कोमलता मनोहारिता और मसृणता नहीं देखी जाती जो कालिदास के प्रकृति चित्रण में है। वस्तुतः प्रकृति का विस्तृत चित्रण करते हुये भी माघ, कालिदास के अनुकर्ता भले ही हों पर प्रकृति के कवि नही कहे जा सकते। माघ का चित्त प्रकृति के आलम्बन रूप के चित्रण पर उतना नहीं जमता जितना कि प्रकृति की पृष्ठभूमि लेकर नायिकाओं के रूप चित्रण एवं उनके विलासों के विविध चित्र उतारने में रमता है अथवा अलंकारों की सज्जा प्रस्तुत करने में लगता है। माघ ने धानों की रक्षा करने वाली गोपिकाओं का, जवकि वे खेतों में शुकों को एक ओर उड़ाने जाती हैं तव दूसरी ओर हरिण आकर खेतों को चरने लगते हैं, जव वे उस ओर जाती हैं तव शुक आकर बैठ जाते हैं, वर्णन यद्यपि सुन्दर किया है पर ऐसे वर्णनों में गोपिकाओं के परस्पर हास एवं उन्मत्त क्रीड़ाओं के ही दृश्य अधिक हैं प्रकृति का भव्य रूप नहीं। इसी प्रकार अन्यत्र भी। यद्यपि पशु पक्षियों के भी अनेक चित्र माघ में हैं तथापि इन चित्रो में स्वाभाविकता तथा प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं, केवल कल्पना के चित्र हैं। प्रकृति का मानवीकरण भी है, सूर्य और कमलिनी का नायक नायिका के रूप में चित्रण भी है, पर्वतो, नदियों, वनों एवं उपवनो के सुन्दर वर्णन भी है पर ये सब परम्परा निर्वाह मात्र के लिये हैं, कालिदास जैसी स्वाभाविकता एवं भव्यता इन चित्रों में नहीं देखी जाती। कालिदास ने सजीव प्रकृति को अपनी सहचरी के रूप में लेकर उससे जो रागात्मक सम्वन्ध स्थापित किया है तथा उसके लिए जिन हृदयगत भावनाओं एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर उसके मनोहारी चित्र उतारे हैं वे माघ में कहाँ मिल सकते हैं। यद्यपि कालिदास ने प्रकृति का विविध परिधानों में चित्रण किया है उसके आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों ही रूप प्रस्तुत किए हैं तथापि उसका आलम्बनात्मक रूप ही उन्हें अधिक प्रिय लगा हैं, यही कारण है कि उनके काव्यों में एवं नाटकों में प्रकृति का यह रूप ही जितना उदात्त एवं भव्य देखने को मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। उदाहरणार्थ

रघुवंश महाकाव्य का गंगा वर्णन अथवा शाकुन्तल के निम्नलिखित श्लोक देखे जा सकते हैं। शकुन्तला के लिये पतिग्रह गमन वेला में मानव ही नहीं प्रकृति भी आँसू बहाती है। मानवीकरण का कितना भव्य चित्र है—

उद्गीर्ण दर्भकवला मृग्यः परित्यक्त नर्तना मयूराः।
अपसृत पाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणि लताः ॥

वास्तव में कालिदास की शकुन्ताला प्रकृतिकन्या ही है। उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति की गोद में ही व्यतीत हुआ है। इसी प्रकार उनके अन्य काव्यों में भी प्रकृति के अनेक संश्लिष्ट चित्र देखे जाते हैं—

अङ्गुलीभिरिव केश सञ्चयं,
संगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं,
चुम्बतीव रजनीमुखं शशी।

मानव के सौन्दर्य चित्रण के लिये कालिदास ने प्रकृति से ही उपमानों का चयन किया है और यह मान्यता प्रकट की है कि मानव में सौन्दर्याधान करने वाली केवल प्रकृति है अर्थात् मानव में जो कुछ सुन्दर है वह सब प्रकृति की ही देन है और कुछ नहीं—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां,
वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्त पुष्प स्तवकाव नम्रा,
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।

स्पष्ट है कि कालिदास के प्रकृति चित्रण की समता माघ के परम्परा भुक्त एवं गिने चुने प्राकृतिक चित्र नहीं कर सकते। माघ में प्रकृति का वर्णन विस्तार भले ही हो पर कालिदास जैसी स्वाभाविका एवं भव्यता उनमें नहीं देखी जा सकती, उनमें क्या ? किसी भी उत्तरकालीन कवि में यह प्रकृति नहीं देखी जा सकती।

माघ का अलंकार विधान

महाकवि माघ की शैली संस्कृत साहित्य की अलंकृत शैली कही जाती है। अलंकारविन्यास की दृष्टि से माघ एक उच्च-कोटि के कवि

हैं, कवि ही नहीं, इस दृष्टि से तो वे एक अनोखे कलाकार ही हैं, यदि इन्हें शब्दों का कलाकार या शाब्दी क्रीड़ा का पारङ्गत कहा जाय तो अधिक ठीक होगा, क्योंकि उन्होंने जहां कहीं भी जो कुछ भी कहा है, वह सीधी सादी भाषा में स्वाभाविक शैली में न कहकर सब कुछ अलंकृत शब्दावली में ही कहा है। सब कुछ अलंकृत होने के कारण ही उनके काव्य में उतनी प्रभावोत्पादकता एवं स्वाभाविकता नहीं है जितनी कि असाधारणता एवं विचित्रता है। उनका प्रत्येक भाव, प्रत्येक वर्णन और प्रत्येक चित्रण अलंकृत है, कोई ही ऐसा श्लोक होगा जिसमें कोई न कोई अलंकार न आ पाया हो, कहीं-कहीं तो एक ही श्लोक में अनेक अलंकारों की झनकार सुनाई पड़ती है और यदि उनके चित्रालंकारों के घटाटोप को देखा जाय तब तो विद्वज्जन भी आश्चर्य चकित रह जायेंगे और पर्याप्त मानसिक व्यायाम के बाद ही उसका अर्थ बोध कर पायेंगे, ऐसे एक दो स्थल ही नहीं सर्ग के सर्ग इस चित्रमयता के उदाहरण हैं उनका उन्नीसवाँ सर्ग एक चित्रशाला ही है, जहाँ एक से एक बढ़कर मुरज बन्ध सर्वतोभद्र आदि गूरी अलंकृत चित्रशाला के दृश्य देखने को मिलेंगे। इन अद्भुत चित्र प्रयोगों को देखकर माघ के प्रखर पाण्डित्य उनकी बहुज्ञता तथा अद्भुत कवित्व शक्ति का सहज ही अनुमान हो जाता है। अनुप्रास और यमक तो उनके काव्य पर सर्वत्र छाये हुए ही है। माघ जैसी सानुप्रास पदावली तो शायद ही कहीं देखने को मिल सके। इस सम्बन्ध में उनके काव्य के कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे, वैसे उनका कोई भी श्लोक अलंकार विहीन नहीं है, समस्त काव्य अलंकारों का अक्षय भण्डार है अनुप्रास और यमक के उदाहरण देखिये—

"मधुरया मधुबोधित माधवी,
मधु समृद्धि समेधित मेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुद्वसद्
ध्वनिभृता निभृताक्षर मुज्जगे॥

नव पलाशपलाशवनं पुरः
स्फुट पराग परागत पङ्कजम्।
मृदुलतान्त लतान्त मलोकयत्
स सुरभिं सुरभिं सुमनो भरैः॥

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया,
नवाम्बुदश्याम वपु र्न्यविक्षत ।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं,
सुमेरुश्रृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥

इसी प्रकार श्लेष के प्रयोग में भी माघ अति कुशल हैं, कहीं-कहीं तो यह श्लेष स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त हुआ है और कहीं अन्य अलंकारों का अंग बनकर आया है। स्वभावोक्ति के प्रयोग में तो कालिदास के बाद माघ ही का स्थान है, माघ जैसा स्वभावोक्ति का सुन्दर प्रयोग न भारवि में हैं और न ही श्री हर्ष में ही। माघ के पञ्चम एकादश द्वादश एवं अष्टादश सर्ग तो विशेष रूप से रमणीय हैं, इन सर्गों के स्वाभाविक चित्र इतने हृदयग्राही है कि पाठक का हृदय बलात् इनमें रम जाता है और उसे सहसा हँसी आ जाती है, सेना के एक हाथी को जब एक लदा हुआ ऊँट देखता तो वह डर कर अपने पीठ के बोझ को भूमि पर पटक कर वहीं उछल कूद करने लगता है पर जब हाथी उसकी यह गति देखता है तो वह चिंघाड़ता हुआ एक ओर भाग जाता हैं, इसी बीच एक गर्दभराज तब तक उछलते रहते हैं दुलत्ती झाड़ते रहते हैं जब तक उन पर चढ़ी एक राज परिचारिका विवस्त्र होकर गिर नहीं पड़ती। उछलते कूदते हुये जब एक घोड़े की काँठी ढीली पड़गई तब वह अवसर पाकर और तेज उछला और सवार को गिराकर एक ओर भग गया लोग घोड़े की इस कलाबाजी को देखकर हँस पड़े। माघ के ही शब्दों में इस चित्र को देखिए—

दुर्दान्त मुत्प्लुत्य निरस्तसादिनं,
सहास हाकार मलोकयज्जनः ।
पर्याणतः स्रस्त मुरोविलम्बिन-
स्तुरङ्गमं प्रद्रुत मेकया दिशा ।

इनके अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक सर्ग में स्वाभावोक्ति के सुन्दर उदाहरण मिलेंगे, इनसे माघ के काव्य की रमणीयता और भी अधिक बढ़ गई है। वस्तुतः माघ द्वारा की गई विविध अलंकारों की यह योजना अर्थ को ही चमत्कृत करने में सहायक नहीं है अपितु यह अर्थ को स्पष्ट करने में भी सहायक है।

इसी प्रकार माघ में प्रायः सभी प्रसिद्ध अर्थालंकारों का प्रयोग देखा जा सकता है, कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं

विरोधाभास, अधिक, अनुप्रास

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जग-
ज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन ददर्शावतरन्त मम्बराद-
हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥

व्यतिरेक

गतं तिरश्चीन मनूरु सारथेः
प्रसिद्ध मूर्ध्वज्ज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः
किमेत दित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥

काव्यलिङ्ग

चयस्त्विषा मित्यवधारितं पुरः
ततः शरीरीतिविभाविता कृतिम् ।
विभु विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यवोधि सः ॥

उत्प्रेक्षा, तद्गुण

अजस्र मास्फालितवल्लकीगुणेत्यादि श्लोक में

अतिशयोक्ति, विभावना

रणद्भिः राघट्टनया नभस्वतः इत्यादि में

अर्थान्तरन्यास

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः इत्यादि श्लोक में

निदर्शना

महा महानीलरुचः पुरः इत्यादि श्लोक मे

उपमा और अनुप्रास की संसृष्टि

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया इत्यादि श्लोक में

उपमालंकार

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्वरः इत्यादि श्लोक में

सम्वन्धा सम्वन्धरूपातिशयोक्ति

युगान्त काल प्रति संहृतात्मनः इत्यादि श्लोक में

श्लिष्ट परम्परित रूपक

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतम् इत्यादि श्लोक में

विरोधाभास

लघू करिष्यन्न तिभारभङ्ग राज्ञ इत्यादि श्लोक में

प्रतिवस्तूपमा

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैः इत्यादि श्लोक में

समासोक्ति

स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि इत्यादि श्लोक में

इस प्रकार माघ काव्य में प्रायः सभी प्रचलित अलंकारों के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं।

विवाहोपरान्त पुत्री के प्रथम वार के वियोग से जब वनवासी यम नियम परायण महर्षि कण्व का भी कण्ठ गद्गद् हो गया था तव जिसकी अहर्निश गोद में क्रीड़ा करने वाली अनेक पुत्रियाँ पतिगृह के लिये विदा हो रहीं हों उस रैवतक पर्वत की दशा कितनी करुणाप्लावित होगी, और किस प्रकार उसने करुण क्रन्दन किया होगा इसका वर्णन करते हुये माघ ने कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिता-
श्चलिताः पुरः पति मुपैतु मात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां
विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥

कालिदास और माघ

महाकवि कालिदास की अनूठी उपमायें विश्वविख्यात हैं इसमें सन्देह नहीं पर कालिदास के अलंकार विन्यास की विशेषताओं का मूल्याङ्कन केवल

"उपमा कालिदासस्य" कह कर नहीं किया जा सकता है, उपमालंकार के प्रयोग में सर्वश्रेष्ठ होते हुये भी कालिदास ने अन्य अलंकारों जैसे अर्थान्तर न्यास, निदर्शना, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, रूपक, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि का भी प्रयोग वड़े मनोयोग से किया है और वे इन सभी अलंकारों के प्रयोग में सिद्धहस्त है, उपमा में तो वे अद्वितीय हैं ही। कालिदास अलंकृतशैली के कवि नहीं, उन्होंने अलंकारो का प्रयोग प्रयास पूर्वक कहीं नहीं किया है, उनके काव्यों में अलंकार अपने आप ही जहाँ आ गये हैं वहीं उनका प्रयोग मिलता है। कालिदास का साध्य रस है अलंकार नही। फिर भी साधन होते हुए भी उपमादि अलंकारों का जितना सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग कालिदास में मिलेगा उतना अन्यत्र नहीं। गंगा यमुना के संगम का वर्णन उपमालंकार का सुन्दर निदर्शन है और साथ ही कालिदास की कल्पनाशक्ति का भी—

क्वचित्प्रभालोपिभि रिन्द्रनीलै
मुंक्तामयी यष्टि रिवानु विद्धा।
अन्यत्र माला सित पङ्कजाना
मिन्दीवरै रुत्खचितान्तरेव ॥
क्वचित् खगानां प्रिय मानसानां
कादम्ब संसर्ग वतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरू दत्तपत्रा
भक्ति र्भुवश्चन्दन कल्पितेव ॥

इसी प्रकार अन्यत्र भी—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः।

इस सर्वोत्तम उपमा के ही कारण कालिदास को दीपशिखा ही कहा जाने लगा था। कालिदास की उपमा में शास्त्रीयत्व के साथ-साथ लिङ्ग-साम्य भी देखने को मिलता है। कालिदास की उपमायें सुवन्धु और श्री हर्ष अथवा माघ की भाँति श्लेष मूलक नहीं हैं वे सभी स्वाभाविक साम्य पर ढली हुई हैं। नन्दिनी के पीछे चलने वाली सुदक्षिणा की, श्रुति के पीछे

पीछे चलने वाली स्मृति से दी गई उपमा कितनी साङ्गोपाङ्ग हैं—श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। इसी प्रकार कालिदास के मेघदूत में अनेक उपमादि अलंकारों का स्वभाव सुन्दर प्रयोग है—

तां जानीथाः परमित कथां जीवितं मे द्वितीयं।
दूरी भूते मयि सहचरे चक्रवाकी मिवैकाम्।

इसी प्रकार अन्य अलंकारों का भी वैशिष्ट्य उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है—

अर्थान्तरन्यास

न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा
स्ववीर्य गुप्ता हि मनोः प्रसूतिः।
न पादपोन्मूलन शक्ति रंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य॥

उत्प्रेक्षा

प्रीत्या तमेवार्थं मभाषितेव—
चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे—
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्र सक्तां
निर्वतयामास नृपस्य दृष्टिम्।

इस प्रकार कालिदास में यद्यपि अलंकारों के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं पर वे अलंकारवादी कलाकार कदापि नहीं कहे जा सकते। यद्यपि अलंकारों का सहज सुन्दर प्रयोग कालिदास की कविता कामिनी के कलेवर को कान्त एवं मधुर अवश्य बना देता है पर महाकवि माघ की कविता कामिनी की तरह वह ऊपर से वलात् ठूंसे गये अथवा अनावश्यक रूप से लादे गये अलंकारों के भार से बोझिल अतएव झुकी-झुकी मन्द-मन्द गति से सम्भल संभल कर चलने वाली नहीं है अपितु वह स्फुट चन्द्रतारका विभावरी की भाँति अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से सहज अलंकारों की लज्जा से सहृदय जनों को आकृष्ट करने वाली है। वस्तुतः माघ के अलंकार विधान में वह रमणीयता और चारुता देखने को नहीं मिलती जो हम कालिदास की समस्त रचनाओं में देखते हैं। माघ ने पाण्डित्य प्रदर्शन की ओर तो अधिक ध्यान दिया है पर काव्य के मुख्य साध्य एवं उसके सहज प्रवाह की ओर कम ध्यान दिया

है। अतएव अलंकार भारावनता उनकी कविता कामिनी का सहज सौन्दर्य प्रकाश में नहीं आ सका है। माघ ने यद्यपि अलंकार कौशल के प्रदर्शन में अपनी समस्त प्रतिभा का उपयोग कर डाला है तथापि उनमें कालिदास जैसी चारुता नहीं आ सकी है। कालिदास का काव्य अलंकार की परिधि में बँधकर चलने वाला नहीं है जबकि माघ के काव्य का जीवन ही अलंकार रहा है। वस्तुतः माघ पहले पण्डित है और तब कवि जबकि कालिदास पहले कवि हैं तब पण्डित, अतः दोनों में बड़ा अन्तर होना स्वाभाविक ही है। माघ की कलावादिता ने प्रायः सभी कवियों को पीछे छोड़ दिया है, अलंकारों के पीछे तो वे यहाँ तक पड़े कि यदि अवसर पर कोई अलंकार न आया तो उसे कहीं से भी ढूँढ़कर वलात् पकड़ कर ठोक-पीट कर सीधा कर यत्र-तत्र वैठा दिया है। यही कारण है कि उनके अलंकारों में वह चारुता तथा स्वाभाविकता नहीं देखी जाती जो कि हम कालिदास में पाते है।

भाव व्यञ्जना और रसाभिव्यक्ति

शिशुपाल वध महाकाव्य का प्रधान रस वीर रस है। शृङ्गार एवं रौद्र आदि रसों का भी अंग रूप में यथा स्थान सन्निवेश किया गया है। शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का यद्यपि चित्रण किया गया है तथापि माघ की रुचि विप्रलम्भ शृङ्गार की ओर उतनी नहीं है जितनी कि सम्भोग शृङ्गार की ओर हैं अतएव माघ में विप्रलम्भ के उदाहरण न के बराबर ही हैं, पर सम्भोग शृङ्गार का इतना अधिक वर्णन किया गया है कि उसने अपने अंगी रस वीर को भी पछाड़ दिया है, अतएव वीर रस कहीं-कहीं दवता हुआ सा अभिव्यक्त हुआ है, यद्यपि प्रधानता वीर रस की ही है पर वह अपने अंग शृङ्गार से अधिक नहीं उठ पाया है। इस प्रकार माघ में वीर रस और शृङ्गार का अपूर्व सम्मिश्रण है, एक ओर यदि वीर रस की धारा वह रही है तो दूसरी ओर शृङ्गार की, दोनों एक दूसरे के साथ चलते हैं, वीर और शृङ्गार का ऐसा योग काव्यानुकूल भी है, प्रायः इन दोनों का योग देखा जाता है। वीर रस का दूसरा सहयोगी रौद्र रस भी है, कवि ने इसका यथास्थान चित्रण किया है।

माघ ने रसाभिव्यक्ति के लिये तदनुकूल भाव व्यञ्जना भी की है, क्योंकि यथोचित एवं रसानुगुण भावों की अभिव्यञ्जना के बिना रस परिपाक नहीं हो पाता, इसीलिये कवि ने वर्णनीय सभी रसों के लिये पृष्ठभूमि के रूप में सुन्दर भाव व्यञ्जना को स्थान दिया हैं।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है जिसका कवि ने प्रथम सर्ग में ही श्रीकृष्ण के उत्साह के रूप में बीजारोपण कर दिया है, श्रीकृष्ण ही इस महाकाव्य के नायक है और नायक में ही इस उत्साह बीज का निर्देश किया गया है। और प्रथम सर्ग में ही वीर रस के आलम्बन के रूप में शिशुपाल का वर्णन किया गया है, इस प्रकार कवि ने प्रथम सर्ग में ही वीर रस की सामग्री जुटा दी है। वीर रस के उद्दीपन विभाव के रूप में १५ वें सर्ग में शिशुपाल द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कठोर वचनो का प्रयोग कराया गया है और उसका दर्पपूर्ण व्यवहार दिखलाया गया है। इस वीर रस के अनुभावों का वर्णन सप्तदश सर्ग में किया गया है और इसके सञ्चारी भाव तो अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं, इस प्रकार रसानुकूल विभावानुभाव सञ्चारि भावों के संयोग से पूर्ण वीर रस की अभिव्यक्ति माघ में देखी जाती है। कवि ने रस की सफल अभिव्यक्ति के लिये स्थान-स्थान पर अनुकूल वातावरण बनाकर १८ वें सर्ग में युद्ध वर्णन के अवसर पर वीर रस का पूर्णपरिपाक दिखलाया है। प्रथम सर्ग में ही वीर रस का एक सुन्दर उदाहरण मिलता है—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा,
सरोष हुङ्कार पराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तु रेवोरगराजरज्जवो
जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे॥

इस प्रकार कवि अपने मुख्य रस की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफल रहा है पर उसकी शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति कुत्रचित् विलासमयी एवं अमर्यादित हो गई है। वस्तुतः माघ का शृङ्गार चित्रण घोर विलासिता के घेरे से बाहर नहीं निकल सका है। माघ के षष्ठ एवं सप्तम सर्गों में नायिकाओं के भेदोपभेदों सहित शृङ्गार की, विशेषतया सम्भोग शृङ्गार की सभी सामग्री पूर्ण कर दी गई है और कवि स्वयं उसमें इतना निमग्न हो गया

है कि उसे वहाँ कितना समय वीत गया, इस यात्रा का क्या उद्देश्य था, यह सव कुछ ही भूल गया है, रैवतक पर्वत मानो एक पड़ाव न होकर विलासमयी क्रीड़ाओं का एक सरस उपवन हो गया है। यहां की सम्भोग शृङ्गार की स्थिति वस्तुतः उपभोग परक, ऐन्द्रियक एवं मादक होने के कारण सर्वथा अमर्यादित नग्न एवं विलासमयी बन गई है। वीर रस के काव्य में शृङ्गार रस का इतनी प्रचुरता एवं सूक्ष्मता से वर्णन करना जहाँ एक ओर माघ की कलावादिता एवं कला प्रियता का परिचायक है वहाँ वह दूसरी ओर यह प्रमाणित करता है कि माघ अन्य शास्त्रों के साथ-साथ कामशास्त्र के भी पूरे पण्डित थे। वस्तुतः माघ ने कहीं-कहीं तो आवश्यकता से अधिक अभिधा शक्ति का आश्रयण कर शृङ्गार को अश्लीलता तक पहुँचा दिया है। कुछ उदाहरण देखिये—

८ वें सर्ग के ६९ वें श्लोक में माघ लिखते हैं कि एक नायिका जब अपना केशपाश बाँधने के लिये अपने हाथ ऊपर उठाती है और वस्त्र हट जाने से जब उसके स्तन खुल जाते है तो नायक एकटक दृष्टि से उन्हें देखने लगता हैं। इसी प्रकार १० सर्ग के ४२ वें सर्ग में जब नायक नायिका का आँचल खींच लेता है और उसके स्तन खुल जाते हैं तब वह लज्जित होकर नायक की दृष्टि बचाने के लिये उसके वक्षः स्थल से अपना वक्षः स्थल लगा देती है।

उत्तरीय विनयात्त्रपमाणा
रुन्धती किल तदीक्षणमार्गम् ।
आवरिष्ट विकटेन विवोढु—
र्वक्षसैव कुचमण्डल मन्या ॥

अभिधा द्वारा किये गये ऐसे वर्णनों में इन्द्रिय वासना की मादक गन्ध के अतिरिक्त और क्या मिलेगा। प्रथम सर्ग में ही सांसारिक माया जाल से पूर्ण विरक्त नारद जी कहते हैं कि शत्रु वध से इन्द्र का हृदय जब पूर्ण दृढ़ हो जायेगा तब वह घने रोमाञ्च युक्त इन्द्राणी के स्तनों के अग्रभाग का शीघ्र आलिङ्गन से उत्पन्न निपीडन की क्षमता को प्राप्त कर लेगा अर्थात् शिशुपाल के वध का सर्वोत्तम फल यही होगा—

हृदय मरिवधो दया दुदूढ़ द्रढिम
दधातु पुनः पुरन्दरस्य ।

घनपुलकपुलोमजाकुचाग्र-
द्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥

और भी एक ऐसा ही उदाहरण है—

आश्लेष लोलुप वधूस्तन कार्कश्य साक्षिणीम्
म्लापयन्न भिमानोष्णै र्वनमालां मुखानिलैः ॥

माघ की शातोदरी तो अवगुण्ठन रहित हो अपने सौन्दर्य का खुला प्रदर्शन ही कर रही है, यद्यपि वह क्षणमात्र के लिये युवकों के नेत्रों के लिये परम महोत्सव अवश्य बन जाती है पर सहृदय काव्य रस मर्मज्ञ के लिये ऐसे नग्न चित्रणों में रसानुभूति नहीं हो सकती, भले ही उसमें कितनी ही कलाबाजी क्यों न हो—

आवि र्भवद् घनपयोधरबाहुमूला
शातोदरी युवदृशां क्षण मुत्सवोऽभूत् ।

माघ के नग्न श्रृङ्गार का एक और भी उदाहरण है जहाँ वे कहते हैं कि हाथी के डर से, जब खच्चर, जिस पर एक अन्तः पुरिका चढ़ी हुई थी, जोर से चिल्लाने लगा और उछलने लगा तब वह अन्तः पुरिका नग्न होकर उस पर से गिर पड़ी उसे देख कर लोग हँससे लगे कितना भोंड़ा चित्रण है। पर सभी स्थानों पर ऐसा नहीं, जब इस हास परिहास से क्षण मात्र को अलग होकर उन्होंने अपने को देखा है तब उनका श्रृङ्गार शिष्ट और सुन्दर बन पड़ा है—एक उदाहरण देखिये, यद्यपि ऐसे उदाहरण थोड़े ही हैं—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं
सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निः शङ्क मन्याः सम माहितेर्ष्याः
तत्रान्तरे जघ्नुरिमं कटाक्षैः ॥

वस्तुतः रस, व्यञ्जना का विषय है अभिधा का नहीं, जहाँ भी इसे अभिधा तक खींच लाया जाता है वहाँ ही यह वीभत्स बन जाता है। श्रृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का माघ में सुन्दर चित्रण हुआ है उदाहरणार्थ १८ वें सर्ग का ७७ वां श्लोक वीभत्स का, १२ वां रौद्र रस का, तथा दशम सर्ग के ५८, ५९, ६० श्लोक हास के सुन्दर उदाहरण हैं।

प्राचीन आचार्यों ने यद्यपि भक्ति को एक भाव ही माना है रस नहीं तथापि माघ की भक्ति भावना जो उन्होंने श्री कृष्ण के प्रति नवधा भक्ति के अन्तर्गत श्रवण और कीर्तन के रूप में दिखलाई है और भगवान के सगुण एवं निर्गुण द्विविध रूपों का वर्णन किया, अति सुन्दर है इसके लिए प्रथम सर्ग के ३३ और ३५ श्लोक द्रष्टव्य हैं। माघ के काव्य का प्रयोजन भी "लक्ष्मी पतेश्चरित कीर्तन मात्रचारु है।

कालिदास और माघ

महाकवि कालिदास के काव्य का परम साध्य रस है जबकि माघ के काव्य का जीवित अलंकार है, अतः उद्देश्य भिन्न होने के कारण इस क्षेत्र में दोनों की कोई तुलना नहीं। रसाभिव्यक्ति और भाव व्यञ्चना में माघ कालिदास से बहुत पीछे छूट जाते हैं। दूसरी बात यह कि यद्यपि कालिदास आद्योपान्त शृङ्गारी कवि हैं तथापि उनके काव्यों में कहीं भी ऐसा कोई भी उदाहरण न मिलेगा जिसे हम अश्लील नग्न या वासनामय कह सकें। कालिदास नें शृङ्गार चित्रण में सर्वत्र लोक मर्यादा का और भारतीय शिष्टता का ध्यान रखा है उनका कोई भी वर्णन अश्लीलता की कोटि तक नहीं पहुँच सका है, इसका कारण है उनकी व्यञ्जनात्मक शैली और भाषा की समाहार शक्ति। यद्यपि उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों का यथास्थान वर्णन किया है तथापि उनकी रुचि विप्रलम्भ शृङ्गार की ओर ही अधिक रही है, यद्यपि उनकी नायिकायें पूर्ण युवती होने पर स्वयं वरवरण करती हैं तथापि उनके प्रेमचित्रण में कहीं भी अश्लीलता नहीं है, अपितु सभी भावों की बड़ी ही सुन्दर व्यञ्जना हुई है उनकी निरलंकृत तथा अति सरल भी शब्द योजना विविध आन्तरिक भावों की अभिव्यञ्चना में सक्षम हैं। एक छोटे से ही पद्य में कवि ने कितनी सुन्दरता के साथ और मार्मिक ढंग से पार्वतीजी के द्वारा एक नारी सुलभ प्रकृति की अभिव्यक्ति कराई है, नारी में यथावसर आन्तरिक प्रेम एवं आनन्दातिरेक भी होता है पर वह इन भावों का संगोपन भी जानती है और कभी भी लज्जा की परिधि से बाहर नहीं जा सकती, कालिदास को नारी हृदय की अच्छी परख है अतएव उन्होंने पार्वती जी के भावों की कितनी मार्मिक व्यञ्जना की है—

इति वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितु रधोमुखी।
लीला कमल पत्रायि गणयामास पार्वती॥

यहां न कोई अलंकार है और न कोई अन्य चमत्कार पर इतनी सुन्दर व्यञ्जना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

वस्तुत: कालिदास ने अपनी उर्वर कल्पना से जो शब्द चित्र खींचे हैं वे संस्कृत साहित्य में अनुपम हैं। मानव हृदय की कोमल भावनाओं का, उनकी सरस एवं आनन्दमयी अनुभूतियों का, तथा उनके विविध भावावेशों का जितना शिष्ट और सर्वथा मर्यादित चित्रण कालिदास ने किया हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है, चाहे काव्य हो या नाटक उन्होने सर्वत्र नारी के स्वाभिमान की रक्षा की है, इसीलिए तो परित्यक्ता भी सीता लक्ष्मण से कहतीं हैं—

वाच्य स्त्वया मद्वचनात् स राजा
वह्नौ विशुद्धा मपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥

कालिदास के शृङ्गार तथान्य रसों के अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में देखे जा सकते हैं, माघ इस क्षेत्र में कदापि उनकी समता नहीं कर सकते।

चरित्र चित्रण

शिशुपाल वध महाकाव्य में पात्रों का चित्रण भी बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। इसमें पात्रों की संख्या बहुत कम है, श्रीकृष्ण ही इस काव्य के नायक है तथा शिशुपाल प्रतिनायक, बलराम उद्धव सात्यकि आदि पात्र प्रसंगत: आये हैं, प्रवन्ध में आदि से अन्त तक चलने वाले केवल दो ही पात्र है, श्रीकृष्ण और शिशुपाल, अत: इन्हीं दो के चरित का सर्वाङ्गीण परिचय तथा उनके चरित की विशेपतायें माघ में पूर्णतया देखीं जाती हैं। इन दोनों के चरित चित्रण में भी कवि सर्वत्र इनकी पौराणिक प्रसिद्धि एवं लोक विश्रुत विशेषताओं से ही अधिक प्रभावित रहा है अतएव वह इनकी जातिगत एवं व्यक्तिगत विशेपताओं का स्वतन्त्र रूप से चित्रण नहीं कर सका है। भारतीय पुराण आदर्शवादी रहे हैं उनमें श्रीकृष्ण का आदर्श स्वरूप ही दृष्टिगत होता है और उनकी लोक विश्रुत भी विशेषतायें इसी आदर्श की सीमा में आवद्ध हैं, कवि ने भी उन्हें इन आदर्शों की परिधि में बाँधे रखा है अत: उनका स्वतन्त्र विकास नहीं हो सका है। यद्यपि नायक

में आदर्श की स्थापना होना ही चाहिये पर उसकी जातिगत स्वभावगत विशेषताओं का भी वर्णन होना आवश्यक है पर माघ में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का उतना विकास नही हो सका है जितना कि एक महाकाव्य के नायक में होना अपेक्षित है इसी प्रकार अन्य पौराणिक पात्रों के चित्रण में भी उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास का अभाव है। चरित्र चित्रण में मानव सुलभ कमजोरियों का भी चित्रण आवश्यक होता है जिससे कि प्रत्येक पात्र की जातिगत एवं व्यक्तिगत स्वाभाविक विलक्षणतायें स्पष्ट हो सकें पर श्रीकृष्ण विषयक पौराणिक मान्यताओं का मोह माघ नहीं छोड़ सके है, उनके श्रीकृष्ण पुराण प्रसिद्ध श्रीकृष्ण ही रहे हैं और उनका वही पूर्ण आदर्शवादी स्वरूप उनके सामने रहा है, श्रीकृष्ण के राजा या महापुरुष के स्वरूप को इतना विकास नहीं मिल सका है, इतना ही नहीं शिशुपाल जैसा उद्धत पात्र भी आदर्श से वाहर नहीं जा सका है। अतः इस आदर्श वादिता के मोह के कारण ही इनके चरित्र चित्रण में पात्रों के व्यक्तित्व के विकास का अभाव है अन्यथा कवि का चरित्र चित्रण स्थान स्थान पर सुन्दर है और वह पात्रों की लोकोचित सभी सामान्य विशेपताओं को प्रकट करता है।

श्रीकृष्ण—महाकाव्य के नायक हैं। इनके चरित्र के चित्रण में सर्वत्र आदर्शवादिता की प्रधानता है और वे वही आदर्श हैं जो श्रीकृष्ण के विषय में पुराणों में देखे जाते हैं और जो लोक में प्रसिद्ध हैं। प्रथम सर्ग में ही नारद जी के सुख से श्रीकृष्ण की इन विशेषताओं का वर्णन कराया गया हैं, नारद जी उनको प्रकृतिविकारों से परे सनातन पुरुष कहते हैं और मानवरूपधारी भी उनको सभी सुरासुरो से श्रेष्ठ प्रतिपादित करते हैं—**"वहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः" उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमि निरपायसंश्रया" मनुष्यजन्मापि सुरासुरान्गुणैं भंवान् भवच्छेदकरैः करोत्यधः"**। श्रीकृष्ण ही महोद्धत दैत्यों एवं अत्याचारी लोगों से साधुजनों की रक्षा करने वाले हैं **"उपप्लुतं पातु मदो मदोद्धतै-स्त्वमेव विश्वेश्वर विश्वमी शिषे"**। इस प्रकार नारदजी उनके लोकरक्षक स्वरूप का वर्णन कर यह भी प्रतिपादित करते हैं कि दुष्टों के उपद्रवों से पीड़ित लोक की रक्षा करने में यदि शत्रुओं का विनाश भी करना पड़े तो

यह सत्पुरुषों का धर्म है और परम कर्तव्य है, इसमें संकोच न करना चाहिए "निपातनीया हि सतामसाधवः" ।

श्रीकृष्ण विचार पूर्वक कार्य करने वाले हैं। यद्यपि नारद जी द्वारा वर्णित शिशुपाल के जीवन वृत्त और अत्याचारों की बातों से श्रीकृष्ण की भ्रकुटि टेढ़ी हो जाती है और वे उसके वध के लिए सोचने लगते हैं तथापि एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं लोकव्यवहार वेत्ता की भाँति वे द्वितीय सर्ग में कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने के लिए उद्धव और बलराम के साथ विचार विनिमय करते हैं। मानव स्वभाव की भी उन्हें अच्छी परख है, वे धीर और गम्भीर तथा मितभाषी भी हैं वे भली-भाँति जानते हैं कि कुशल राजनीति पटु भी व्यक्ति गलती कर सकता है अतः उसे समझ बूझ कर ही, अन्य लोगों से मन्त्रणा करके ही आगे कदम बढ़ाना चाहिए— "ज्ञात सारोऽपि खल्वेक सन्दिग्धे कार्य वस्तुनि" पर कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में उनकी बुद्धि परप्रत्ययनेय कभी नहीं है, बलराम जी के उत्तेजनापूर्ण परामर्श पर ध्यान न देकर वे उद्धव जी की बात को स्वीकार करते है और क्रोधावेश में आकर तुरन्त ही शिशुपाल पर आक्रमण करने के लिये उद्यत नहीं होते हैं।

कवि ने श्रीकृष्ण के उदात्त एवं आदर्श चरित्र की रक्षा का सदा ध्यान रखा है अतएव वन विहार एवं जल-क्रीड़ा आदि के विस्तृत वर्णनों के अवसर पर वह श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत वर्णन अधिक नहीं करता है उनको इन क्रीड़ाओं में आसक्त नहीं दिखलाता है, यद्यपि सामान्यतः उन समस्त शृङ्गार प्रधान क्रीड़ाओं का सम्बन्ध नायक से होने के नाते श्रीकृष्ण से भी हो जाता है।

जहाँ कहीं भी कवि ने श्रीकृष्ण की व्यक्तिगत अथवा स्वाभावगत विशेषताओं का निर्देश किया है, वहाँ वे, वे ही विशेषतायें हैं जिनका पुराणों में प्रायः उल्लेख हुआ है जैसे कृषकों अथवा गोपालों एवं गायों के प्रति उनका सहज स्नेह अतएव राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने जाते हुये भी वे अपने प्रिय गोपालों, गायों, कृषकों एवं गोष्ठों को नहीं भूलते और उन्हें स्नेहमयी दृष्टि से देखते जाते हैं तथा उनके प्रति पूर्ण सहानुभूति प्रकट करते हैं।

माघ के श्रीकृष्ण नीति निष्णात होते हुए भी परोपकार परायण हैं, लोकोपकार अथवा लोक संरक्षण के लिये वे अपने मानापमान तथा कष्टों की ओर ध्यान न देकर लोक पीडक अत्याचारियो का वध करने के लिये तथा लोक धर्म एवं मर्यादा के संरक्षण के लिये सदा तत्पर रहते हैं लोक को पीड़ा पहुँचाने के कारण ही वे शिशुपाल का वध करने को उद्यत होते हैं, अपने स्वार्थ, या प्रतिष्ठा अथवा व्यक्तिगत ईर्ष्या द्वेष के कारण नहीं, इसीलिये द्वितीय सर्ग में वे स्वयं कहते हैं—

न दूये सात्वती सूनुः यन्मह्यमप राध्यति ।
यत्तु दन्दह्यते लोक मदौ दुःखाकरोति माम् ॥

वीर योद्धा होते हुये भी उनमें अपूर्व धैर्य सहन शीलता एवं क्षमाशीलता है । शिशुपाल के परुष वचनों को सुनकर भी वे क्रोधित नहीं होते और न उनका उत्तर ही देते हैं इसी प्रकार दूत द्वारा भी कटूक्तियों एवं गर्वोक्तियों को सुनकर भी वे उत्तेजित नहीं होते अपितु मौन एवं शान्त बने रहते हैं । इसीलिये कवि ने उनके विषय में कहा है—"कटुनापि चैद्यवचनेन विकृति मगमन्न माधवः" । स्वभावतः गम्भीर पुरुषों में किसी की कटूक्तियों पर तुरन्त क्रोध उत्पन्न नहीं होता, वे ऐसे अवसर पर बड़े धैर्य और गाम्भीर्य से काम लेते हैं । भगवान् कृष्ण की ऐमी गम्भीरता की ही ओर संकेत करते हुये सात्यकि ने ठीक ही कहा है—

"अनुहुंकुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी ॥"

ठीक ही है गीदड़ो की भभकी का सिंह उत्तर नहीं दिया करते हैं, पर जब वे चाहते हैं तब उसका अस्तित्व हीं समाप्त कर देते हैं । पर इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि उनको कभी क्रोध आता ही नहीं, ऐसे महा-पुरुषों को जब कभी क्रोध आता है तब वह पूर्ण विनाश का ही कारण होता है उनका क्रोध कभी व्यर्थ नहीं जाता, महापुरुषों के चरित्र की ऐसी ही विशेषता होती है—"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि । लोकोत्तराणां चरितानि को विज्ञातु मर्हति" । फलतः श्रीकृष्ण के हृदय में जो क्रोध का अंकुर प्रथम सर्ग में उत्पन्न हुआ था वह अन्तिम सर्ग में प्रतिफलित होता है और उनके एक ही चक्रप्रहार से शिशुपाल का शिर धड़से अलग हो जाता है।

इन सभी गुणों के साथ-साथ श्रीकृष्ण भारतीय संस्कृति आदर्श एवं शिष्टाचार के पूर्णत: परिपोषक हैं उनका कोई भी कथन या व्यवहार शिष्टाचार की सीमा से बाहर नहीं जा सका है, अपितु उन्होंने इसका सर्वत्र पालन किया है। प्रथम सर्ग में ही मुनि नारद के आगमन पर उन्होंने जिस प्रकार उनकी अर्चना की, स्वागत किया तथा उनके साथ जिस विनम्र भाव से तथा जिस शब्दावली से वार्तालाप किया, यह सब उनके शिष्टाचार परिपालन के साक्षात् निदर्शन हैं उदाहरणार्थ माघ के प्रथम सर्ग के १२, १४, १६, १७, आदि श्लोक देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार संक्षेपत: कहा जा सकता है कि माघ ने श्रीकृष्ण को भगवान् के अवतार के रूप में ही चित्रित किया है, अतएव उन्होंने उनकी क्षत्रिय जातिगत भावनाओं एवं सामान्य मानवीय विशेषताओं का वर्णन नहीं किया है और न उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का ही चित्रण किया है। सात्यकि आदि कुछ अन्य पात्रों द्वारा अवश्य उनकी कुछ सामान्य मानवीय विशेषताओं की चर्चा की गई है, इस प्रकार माघ में श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व पूर्णरूप से प्रकाश में नहीं आ सका है, पौराणिक कृष्ण एवं माघ के कृष्ण में अधिक अन्तर नहीं है। यत्र तत्र ही उनका मानवरूप प्रकट हो पाया है।

शिशुपाल—इस महाकाव्य का प्रतिनायक है। वह जगत् पीड़क, अत्याचारी तथा एक उद्धत राजा है। इतना ही नहीं, कवि ने उसे एक मानवरूप धारी भयानक राक्षस के रूप में चित्रित किया है, श्रीकृष्ण से वह द्वेष रखता है, और उनका अपमान करता है, उनकी पूजा प्रतिष्ठा को वह देख नहीं सकता और वह अपने समक्ष किसी को बलवान् नहीं समझता। कवि ने प्रथम सर्ग में मुनि नारद के मुख से उसकी उत्पत्ति कथा बतलाई है और यह संकेत किया है कि वह इसी जन्म में ही नहीं, अपने पूर्व जन्मों में भी हिरण्यकशिपु और रावण के रूप में अत्याचारी था, अत: वह मानव रूपधारी होकर भी रावण जैसा ही राक्षस है।

"अथोपपत्तिं छलना परोऽपरा
मवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम्।
तिरोहितात्मा शिशुपाल संज्ञया
प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः॥

उद्धत और अत्याचारी होते हुए भी शिशुपाल बलवान् एवं पराक्रमी है, वह अपने ऐश्वर्य एवं दर्प तथा शक्ति के कारण सभी देवताओं एवं असुरों पर भी अधिकार रखता है उन पर अनुग्रह अथवा निग्रह करने में वह स्वयं समर्थ है, सभी उसके आज्ञा पालक हैं। वह इतना बलशाली है कि वह उन रावण आदि राक्षसों का ही उपहास करता है, क्योंकि उन्होंने देवताओं की आराधना करके ही बल प्राप्त किया था उनमें स्वयं इतनी शक्ति न थी। वह तेज में तो सूर्य के समान था और पराक्रम में अद्वितीय था, प्रथम सर्ग में उसके बल और ऐश्वर्य का नारद जी ने वर्णन किया है—

युवा कराक्रान्त मही भृदुच्चकै—
रसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः।
स्वयं विधाता सुर दैत्य रक्षसा—
मनु ग्रहानुग्रहयो र्यदृच्छया।
दशाननादी नभिराद्ध देवता—
वितीर्णवीर्यातिशयान् हसत्यसौ॥

मानी जन का मन दूसरे के ऐश्वर्य प्रतिष्ठा गुणों आदि को सहन नहीं कर सकता अतएव राजसूय यज्ञ में सर्व प्रथम श्रीकृष्ण की पूजा होते देख कर ईर्ष्या और क्रोध वश वह उन्मत्त हो जाता है और अनेक कटूक्तियों द्वारा वह श्रीकृष्ण का अपमान करने लगता है। पाण्डवों द्वारा की गई पूजा की वह सभा स्थल में निन्दा करता है, जब इससे भी उसे सन्तोप नहीं होता है तब वह दूत भेजकर अपनी प्रशंसा कराता है और श्रीकृष्ण के लिये अनेक निन्दास्पद कटूक्तियों का प्रयोग कराता है। इतना होते हुए भी उसमें वाक्पटुता गम्भीरता और राजनीतिज्ञता भी है अतएव वह सभा मण्डप में युद्ध न करके मैदान में आकर अपने रण कौशल का प्रदर्शन करता है, वह एक निर्भीक योद्धा है, वह अस्त्र शस्त्र प्रयोग में भी उतना ही कुशल है जितना कि वाग्वाण प्रहार में। माघ ने उसकी रण कुशलता का विस्तार पूर्वक वर्णन किया हैं। पुराणों में तो उसे एक दुष्ट अत्याचारी परपीडक के रूप में चित्रित किया गया है पर माघ ने उससे कुछ सहानुभूति रखते हुए उसकी वीरता का भी अच्छा वर्णन किया है, पर उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं की ओर कवि ने ध्यान नहीं दिया है।

माघ में नारद उद्धव बलराम सात्यकि आदि अन्य भी पात्र हैं पर ये सब चरित्र चित्रण की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखते संक्षेपत: यही कहा जा सकता है कि कवि ने इन सभी पौराणिक पात्रों का अच्छा चित्रण किया है जिसे हम आदर्शवादी चित्रण कह सकते हैं।

माघ की बहुज्ञता और पाण्डित्य

महाकवि माघ पहले पण्डित हैं और तब कवि। उनका समस्त काव्य उनके सर्वतोमुखी पाण्डित्य से व्याप्त है। विद्वज्जनों में उनकी ख्याति जितनी अधिक उनके पाण्डित्य को लेकर हैं उतनी कवित्व की दृष्टि से नहीं। संस्कृत कवियों में माघ जैसा अगाध पाण्डित्य अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा। संस्कृत भाषा और साहित्य पर तो उनका पूर्ण अधिकार था ही, पर वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, ज्योतिष्, आयुर्वेद, राजनीति आदि विषयों पर भी उनका समान अधिकार था, उनके काव्य में इन सभी विषयों का यथा स्थान निर्देश मिलता है जिससे उनकी बहुज्ञता ज्ञात होती है स्थान-स्थान पर उनके काव्य में पौराणिक संकेत हैं जिससे उनके प्राचीन साहित्य के गम्भीर अध्ययन का परिचय मिलता है—

श्रुति विषयक ज्ञान

महाकवि माघ को श्रुति बोधित विधि विधानों तथा नित्य नैमित्तिक कर्मों का अच्छा ज्ञान था, तत्तद् विधिपरक मन्त्रों के साथ-साथ उन्हें यह भी ज्ञान था कि किस श्रौतविधि का किस प्रकार विधान किया जाना चाहिये। उन्होंने अपने काव्य के ११ वें सर्ग में प्रात: कालीन अग्नि होत्र का बड़ा मनोरम वर्णन किया है। नित्य अग्नि होत्र करने वाले धार्मिक जनों के गृहों में प्रात: काल ही सञ्चित अग्नियाँ जल उठी हैं और पुरोहित ब्राह्मण यथास्थिति और यथास्थान उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों के साथ मन्त्रोच्चारण करते हुये उन प्रज्ज्वलित अग्नियों में पापापक्षय कारक समिधाओं को छोड़ने लगे हैं, तथा अन्य आवश्यक सामग्रियों सहित मन्त्रोच्चारण पूर्वक हवन करने में तत्पर हो गये हैं और अग्नि ज्वालायें उन हव्य पदार्थों का आस्वदन कर तृप्त होने लगीं हैं।

इतना ही नहीं वैदिक स्वरों की समस्त विशेषताओं से भी वे पूर्ण परिचित थे, वे भली-भांति जानते थे कि स्वर परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन हो जाता।

अतः मन्त्र पाठ करने वाले को स्वर प्रयोग में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये, अन्यथा स्वर भेद से अनर्थ भी हो सकता है, १४ वें सर्ग में उन्होंने इसका भी संकेत किया है—शब्द शासनविदः समासयो विंग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते । वे जानते थे कि सन्देहास्पद समासों से विपरीतार्थ की सम्भावना रहती है इसलिये समासान्त पद प्रयोग में स्वर का विशेष ध्यान रखना पड़ता है पद में एक स्वर के उदात्त होने पर अन्य स्वर अनुदात्त हो जाते हैं इस बात को वे जानते थे और उन्होंने इसका निर्देश इस पंक्ति में किया है—

"निहन्त्यरीनेक पदे यः उदात्तः स्वरानिव" ।

दार्शनिक ज्ञान—माघ कवि को प्रायः सभी आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों का अच्छा ज्ञान था, कई स्थानों पर उन्होंने इन दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्देश किया है, सबसे अधिक निर्देश सांख्य दर्शन का है, वह सम्भवतः इसलिये कि यही प्राचीनतम दर्शन माना जाता रहा है । प्रथम सर्ग में ही नारद जी, श्री कृष्ण से वार्तालाप करते हुये उन्हें सांख्य दर्शन की मान्यताओं के अनुसार, प्रकृति विकारों से परे पुरातन पुरुष कहते हैं—

उदासितारं निगृहीतमानसै
गृंहीत मध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
वहि विकारं प्रकृतेः पृथग् विदुः
पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥

इसी प्रकार द्वितीय और चतुर्दश सर्गों में भी कुछ सांख्य दर्शन के तत्त्वों का विवेचन मिलता है ।

चतुर्थ सर्ग के ५५ वें श्लोक में योगदर्शन के सभी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे चित्तपरिकर्म, सवीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति आदि, इसी में मैत्री मुदिता करुणा और उपेक्षा इन चार चित्त की शोषक वृत्तियों, एवं अविद्यादि पञ्च क्लेशों का भी संकेत है और यह भी वतलाया गया है कि इन पञ्च क्लेशों से मुक्त तथा सवीज समाधि प्राप्त योगी जन-सत्त्व पुरुषान्यताख्याति का भी निरोध करने की इच्छा करते हैं इसी प्रकार चतुर्दश सर्ग में भी योगदर्शन का संकेत मिलता है । इसी सर्ग के २० वें श्लोक में मीमांसा दर्शन का भी परिचय मिलता है ।

वेदान्त दर्शन की तो अनेक स्थलो पर चर्चा की गई है। प्रथम सर्ग में नारद जी कहते हैं मोक्षार्थी के लिए एक मात्र शरण भगवान् कृष्ण ही हैं, अतः मोक्षार्थियों को उनकी शरण में जाना चाहिए—

उदीर्णराग प्रतिरोधकं जनै
रभीक्ष्ण मक्षुण्णतयाति दुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विन
स्त्वमग्रभूमि निरपाय संश्रया॥

इन आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन दर्शनों का भी उन्हें परिचय था, द्वितीय सर्ग में बौद्ध दर्शन द्वारा मान्य रूपादि पञ्च स्कन्धों का निर्देश किया गया है—

सर्व कार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्ग स्कन्धपञ्चकम्।
सौगताना मिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्,

पौराणिक ज्ञान—महाकवि माघ का पौराणिक अध्ययन उच्चकोटि का था, उन्होंने रामायण महाभारत के अतिरिक्त अन्य पुराणों का भी यथा स्थान संकेत किया है, कहीं-कहीं तो अप्रसिद्ध पौराणिक संकेत हैं, उन्होंने श्री कृष्ण बलराम नारद इन्द्र आदि के लिये जिन विभिन्न नामों का उल्लेख किया है उनके साथ कोई न कोई पौराणिक आख्यान है और उनका प्रयोग भी विशेष अर्थ का संकेत करता है यथा—मुरद्विषः, सीरपाणिः, हिरण्य-गर्भाङ्गभू इत्यादि नाम अपने-अपने स्थान पर विशेष अर्थ के सूचक हैं।

संगीत एवं नाट्य ज्ञान—महाकवि संगीत शास्त्र से भली-भाँति परिचित थे, उन्हें संगीत शास्त्र के वाद्य ताल लय स्वर ग्राम मूर्च्छना आदि सूक्ष्म भेदों का अच्छा ज्ञान था। ग्राम मूर्च्छना आदि संगीत शास्त्र के सूक्ष्म पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उनकी एतद् विषयक विशेषता का परिचायक है। अनेक स्थलों पर इस प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं। प्रथम सर्ग में आकाश से उतरते समय नारद जी की महती नामक वीणा से वायु के आघट्टन वश बजने वाले सप्त स्वरों का तथा उनके सूक्ष्म भेदों का वर्णन करते हुये महाकवि माघ ने लिखा है—

रणद्भि राघट्टनया नभस्वतः,
पृथग् विभिन्न श्रुतिमण्डलैः स्वरैः।

स्फुटी भवद् ग्रामविशेष मूर्च्छना-
मवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ।।

नारद जी की वीणा से न केवल सप्त स्वर ही स्पष्ट सुनाई पड़ रहे थे अपितु तीनों ग्राम तथा २१ मूर्च्छनायें भी स्पष्टतया प्रतीत हो रहीं थीं।

महाकवि माघ न केवल कवि थे अपितु वे नाट्य शास्त्र के सभी विधानों से भी भली भाँति परिचित थे, नाट्य शास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने कई स्थलों पर प्रयोग किया है, प्रथम सर्ग में शिशुपाल का जीवन वृत्त वतलाते हुये उन्होंने लिखा है—

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरा-
मवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।

२० वें सर्ग में सर्पों की उपमा द्वारा नाटकीय पञ्चसन्धियों का निर्देश किया है और यह वतलाया है कि नाटक एक यज्ञ है जो कि अतिरमणीय होता है अतः नाटककार को मुख सन्धि का वर्णन विस्तार पूर्वक तथान्य सन्धियों का संक्षेपतः वर्णन करना चाहिये।

राजनीति विषयक ज्ञान—महाकवि माघ राजनीति के तो पूर्ण अभिज्ञाता थे। राजनीति शास्त्र में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने अपने काव्य में यथा स्थान प्रयोग कर अपने राजनीति विषयक ज्ञान का परिचय दिया है, इन पारिभाषिक शब्दों में कुछ अप्रचलित शब्द भी हैं जिन्हें वही समझ सकता है जिसे चाणक्य, शुक्र, वृहस्पति, आदि के राजनीति विषयक ग्रन्थों का अच्छा परिचय हो—राजनीति विषयक षड् गुण, उदयत्रय, द्वादश राजमण्डल, विजिगीषु, शक्तित्रय अङ्गपञ्चक आदि शब्दों का यथोचित प्रयोग उनकी राजनीति पटुता का परिचायक है। यही नहीं कि वे राजनीति विषयक शब्दावली से ही परिचित थे, वे यह भी जानते थे कि विजिगीषु राजा को किस समय क्या करना उचित है, द्वितीय सर्ग में उन्होंने उद्धव तथा वलराम से जो परामर्श किया है तथा दोनों के मतों को, जो परस्पर विरुद्ध हैं, समक्ष रख कर जो निर्णय लिया है वह उनके राजनीति विषयक ज्ञान का परिचायक है, पूरा द्वितीय सर्ग राजनीति चर्चा का ही विषय है। इसी प्रकार राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठर और भीम के मुखसे राजनीति विषयक सभी समस्याओं का जो समुचित समाधान कराया गया

है वही इनके एतद् विषयक पाण्डित्य का परिचायक है माघ की यह राजनीति भारतीय संस्कृति और परम्परा के अनुरूप है उन्होंने धर्म में अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं रखा है, यद्यपि राजनीति का स्वरूप समय एवं परिस्थिति वश परिवर्तनशील रहता है, तथापि भारतीय संस्कृति के परम उपासक होने के कारण माघ ने इसका स्वरूप प्राचीन संस्कृति और परम्परा के अनुरूप ही अपनाया है। साधारणतः महाकाव्यों में इस प्रकार का विस्तृत राज-नीति सम्बन्धी विवेचन देखने को नहीं मिलता। उदाहरण के लिये द्वितीय सर्ग के २३, २८, ३४, ५७, ८१, ८२ आदि श्लोक द्रष्टव्य हैं।

न केवल राजनीति अपितु विजिजीषु के लिये शत्रु पर विजय पाने के लिये तथा आत्म रक्षा के लिये किन किन साधनों की अपेक्षा रहती है और उन्हें किस प्रकार अपनाना चाहिये इन सब का भी कवि ने यथावत् वर्णन किया है, सेना सञ्चालन, युद्ध यात्रा, दुर्ग निर्माण, सैन्य विभाग, शस्त्रास्त्रों के प्रयोग और उनका उपसंहार, शत्रु से वार्तालाप उत्साह क्रोध आदि का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत काव्य में मिलता है जिन्हें पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों महाकवि माघ युद्ध के प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। यह कवि की युद्ध विषयक निपुणता का परिचायक है।

आयुर्वेद ज्योतिष् पशुविद्या आदि

महाकवि माघ सभी वेदाङ्गो में पूर्ण निष्णात ज्ञात होते हैं, यथा स्थान प्रयुक्त शब्द उनके एतद्विषयक ज्ञान के परिचायक हैं। आयुर्वेद ज्योतिष् आदि ही नहीं कवि को पशु विद्या का भी अच्छा ज्ञान था। जो ज्वर पसीने से शान्त हो जाता है उसको बहुत जल्दी ही उतारने के लिये रोगी को जल से स्नान करा देना बुद्धिमत्ता नहीं है इससे तो वह ज्वर और बढ़ेगा, कम न होगा, इसी बात को बतलाते हुये कवि ने द्वितीय सर्ग में लिखा है—

स्वेद्य मामज्वरं प्राज्ञः, कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥

राजयक्ष्मा सभी रोगों का राजा होता है अर्थात् यह रोग दुःसाध्य होता है इसका भी निर्देश कवि ने द्वितीय सर्ग में किया है—

राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम् ॥

इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों में रसायन व्यायाम उपवास आदि की भी चर्चा है जो कि आयुर्वेद की दृष्टि से रोगविनाशक एवं पुष्टि प्रद होते हैं।

मृगी भी एक रोग है। इस रोग के रोगी की चेष्टाओं का चित्र तृतीय सर्ग में मिलता है, इस प्रकार जहाँ कहीं भी कवि को अवसर मिला है वहाँ उसने अपने एतद् विषयक ज्ञान का परिचय दिया है।

"व्योम्नीव भ्रकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम्"

प्रथम सर्ग के इस श्लोक से कवि का ज्योतिष् विषयक ज्ञान भी प्रकट होता है। ज्योतिः शास्त्र के अनुसार आकाश में केतुतारा का उदय विनाश का कारण होता है। इसी प्रकार एक उपमा के द्वारा कवि ने ज्योतिः शास्त्र सम्मत पुष्य नक्षत्र को सर्वार्थसिद्धिकर कहा है। इतना ही नहीं ज्योतिः शास्त्र में भिन्न भिन्न ग्रहों के एक स्थान पर स्थित होने पर जो कई प्रकार के शुभाशुभ फलप्रद योग होते हैं उनका भी कवि ने निर्देश किया है। त्रयोदश सर्ग में 'दुर्धरा' नामक योग का संकेत किया गया है, सूर्य के अतिरिक्त जब चन्द्रमा किन्हीं दो ग्रहों के मध्य स्थित होता है तब यह योग पड़ता है।

कवि को पशुओं के लक्षणों का उनकी स्वभावगत चेष्टाओं का अच्छा ज्ञान था इसीलिये उन्होंने कई स्थानों पर हाथी अश्व ऊँट ही नहीं खच्चरों तक का स्वाभाविक वर्णन किया है। गज विद्या में तो वे पूर्णतः निपुण थे। हाथी के किन-किन स्थानों से मदस्राव होता है इसका निर्देश उन्होंने सप्तदश सर्ग में किया है तथा अन्य प्रकार के गजों के लक्षण भी दिये हैं। अश्वों की गति कितने प्रकार की होती है उसको तेज मध्य और मन्द गति से चलाने के लिये किस उपाय से काम लेना चाहिये, वल्गा का प्रयोग एवं अश्वारोहण विधि आदि का भी यथा स्थान संकेत किया गया है।

स्पष्ट है कि महाकवि माघ मानव ही नहीं पशु पक्षियों मधुमक्खियों तक के स्वभाव और उनकी चेष्टाओं तथा विविध क्रियाओं से परिचित थे। एक कुशल कवि में जो बहुज्ञता होनी चाहिए वह माघ में विद्यमान थी, जिसका परिचय हमें उनके काव्य से मिलता है, कोई भी लोकचर्चित विषय उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो सका है।

व्याकरण शास्त्र का ज्ञान—महाकवि माघ व्याकरण शास्त्र के तो महा पण्डित ही थे और फलतः उन्होंने इस शास्त्र के ज्ञान का सबसे अधिक परिचय भी दिया है। साहित्य मर्मज्ञ कोई कवि व्याकरण शास्त्र की इतनी

गहराई तक नहीं पहुँचा है। पाणिनि व्याकरण परिनिष्ठित विविध शब्दों का प्रयोग ही नहीं उन्होंने व्याकरण में प्रचलित परिभाषाओं एवं कुछ व्याकरण सम्बन्धी नियमों का भी निर्देश किया है। व्याकरण के ये नियम एवं परिभाषायें यद्यपि नीरस हैं तथापि उन्होंने इन्हें अपनी सुन्दर उपमाओं के वीच रखकर सरस बना दिया है। उनके महाकाव्य का प्रत्येक श्लोक कवि के व्याकरण विषयक पाण्डित्य का परिचायक है, प्रायः प्रत्येक श्लोक कुछ नवीन शब्दावली को ही लेकर लिखा गया है, अतएव साधारण पाठक के लिये प्रत्येक श्लोक में एक नवीन पदावली ही दृष्टिगत होती है। शब्दों की पुनरावृत्ति कुत्रचित् ही देख पड़ती है, सम्भवतः इसीलिये कहा गया है—"नव सर्गे गते माघे नव शब्दोऽपि न विद्यते" यद्यपि यह कथन कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण है तथापि माघ काव्य के विषय में यह कथन कुछ वास्तविकता भी रखता है। द्वितीय सर्ग के इस श्लोक में उन्होने महाभाष्य काशिका वृत्ति न्यास ग्रन्थ की ओर संकेत किया है—

अनुत्सूत्र पदन्यासः सद्वृत्तिः सन्निवन्धना।
शब्द विद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥

शिशुपाल इतना प्रभावशाली है और प्रजाजनों पर उसका इतना आतङ्क है कि कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता, भले ही वह आज्ञा छोटी हो पर उसकी सर्वत्र मान्यता और प्रतिष्ठा है, सव लोग सर्वत्र उसका अनुवर्तन करते हैं कहीं भी उसका अवरोध नहीं हो सकता जिस प्रकार कि पाणिनि व्याकरण में प्रयुक्त परिभाषायें स्वल्याक्षरा होते हुए भी सुविस्तृत अर्थ और प्रयोजन रखती हैं सर्वत्र वे अनुवृत्त होती हैं, सर्वत्र प्रतिष्ठित एवं मान्य होती हैं कहीं भी उनका अवरोध नहीं होता। कवि ने परिभाषाओं के इसी महत्व को निम्नलिखित श्लोक में वतलाया है—

"परितः प्रमिताक्षरापि सर्वं विषयं व्याप्तवती गता प्रतिष्ठाम् न,
सलु प्रति हन्यते कुतश्चित् परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा॥"

चतुर्दश सर्ग में श्रीकृष्ण के महत्व को वतलाते हुए कवि ने धातुओं के कर्तृवाच्य और कर्मवाच्यत्व का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मृज् विषयों, संहारार्थक सम् । हृ धातु, तथा शासु

अनुशिष्टौ धातु कर्तृवाच्य में ही प्रयुक्त होते हैं अर्थात् हरिः सृजति, हरिः संहरति, हरिः शास्ति इस प्रकार ये तीनों धातु श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में सदा कर्तृवाचक प्रत्यय से ही संयुक्त रहते हैं, कभी भी कर्मवाचक प्रत्यय के साथ प्रयुक्त नहीं होते अर्थात् हरिं सृजति, हरिं संहरति, हरिं शास्ति ऐसा प्रयोग कभी नहीं होता क्योंकि श्रीकृष्ण ही जगत्कर्ता जगन्नियन्ता और जगत् संहर्ता हैं। परन्तु ष्टुञ् स्तुतौ धातु सदा इसके विपरीत प्रयुक्त होता है अर्थात् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में वह कर्मवाच्य में कर्मवाचक प्रत्ययों से ही युक्त होता हैं अर्थात् हरिं स्तौति यही प्रयोग होता है हरिः स्तौति नहीं क्योंकि सभी सुरासुर भगवान् की स्तुति करते हैं, भगवान् किसी की स्तुति नहीं करते—

केवलं दधाति कर्तृवाचिनः,
प्रत्ययानिह न जातु कर्मणि।
धातवः सृजति संहृशास्तयः
स्तौतिरत्र विपरीतकारकः ॥

पा रक्षणे और पा पाने धातुओं के क्रमशः रक्षा करना और पीना अर्थ हैं। कवि ने बतलाया है कि भगवान् श्रीकृष्ण का वाण एक ही साथ एक ही काल में दोनों धातुओं का अर्थ प्रकट करता है अर्थात् वह जगत् की तो रक्षा करता है और शत्रुओं के रक्त का पान करता है। शत्रु के शरीर में लगकर वाण एक ओर तो शत्रुओं से पीडित जगत् की रक्षा करता है और दूसरी ओर वह शत्रु का रक्त पान कर उसे नष्ट कर देता हैं।

उद्धतान् द्विषत स्तस्य निघ्नतो द्वितयं पपुः।
पानार्थे रुधिरं धातोः रक्षार्थे भुवनं शराः ॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी वतलाया है कि उपसर्ग वशात् धातु का अर्थ परिवर्तित हो जाता है एक ही धातु विविध उपसर्गों के साथ भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है और उन्होंने ऐसे अनेक प्रयोग स्वयं किये हैं। उनके काव्य में इसी प्रकार के व्याकरण के अनेकविध प्रयोग मिलते हैं जो कि कवि के व्याकरण विषयक अगाध ज्ञान के परिचायक हैं।

वस्तुतः महाकवि माघ संस्कृत साहित्य में एक उच्च कोटि के वैयाकरण होने के साथ-साथ विविध विषयों के ज्ञाता थे। जिस प्रकार भारवि अपनी

राजनीति पटुता के लिये तथा अलंकृत शैली के लिये प्रसिद्ध हैं, कालिदास सरसता मधुरता एवं विदग्धता के लिये, श्री हर्ष दार्शिकता एवं अद्भुत उत्प्रेक्षाओं एवं कल्पनाओं के लिये तथा महाकवि भट्टि व्याकरण कौशल के लिये ख्याति लब्ध हैं उसी प्रकार महाकवि माघ अपनी बहुज्ञता एवं पाण्डित्य के लिये प्रसिद्ध हैं। सभी विषयों में यदि वैदुष्य देखने को मिलता है तो वह माघ में ही है अन्यत्र नहीं।

संस्कृत साहित्य में महाकवि माघ का स्थान

माघकवि माघ संस्कृत साहित्य के अद्वितीय कवि थे। यद्यपि इनकी काव्य कीर्ति पताका का एक ही आधार या अवलम्बन है और वह है इनका शिशुपाल वध महाकाव्य। पर यह एक ही काव्य इतना उत्कृष्ट है कि अन्य कवियों के बहु संख्यक काव्य भी इसकी समता नहीं कर सकते, चाहे जिस दृष्टिकोण से देखा जाय, काव्य अपने में पूर्ण परिलक्षित होगा, अतः उनका यह अकेला ही काव्य उनकी अमर कीर्ति को बनाये रखने में सक्षम है। जिस प्रकार अकेला एक चन्द्रमा ही समस्त अन्धकार को दूर कर देता है, बहुत से तारागण भी नहीं, उसी प्रकार काव्य जगत् में माघ का एक ही काव्य संस्कृत काव्य को जितना उद्भासित करने में समर्थ है उतना अन्य काव्य नहीं।

महाकवि माघ के कवित्व की प्रशंसा में अनेक सूक्तियाँ श्रुतिगत होती हैं। यदि इन सूक्तियों पर विचार किया जाय तो महाकवि माघ की काव्य क्षेत्र में सर्वोत्कृष्टता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यद्यपि ये सूक्तियाँ अतिशयोक्ति पूर्ण प्रतीत होती हैं तथापि इनमें बहुत कुछ सत्यता भी है और वे कवि के उच्चकोटि के कवित्व की परिचायिका हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, आज सभी प्रकार के काव्य विद्यमान हैं—एक ओर यदि कालिदास आदि रस सिद्ध कवियों के सरस मधुर उत्तम कोटि के काव्य हैं तो दूसरी ओर विचित्र मार्गानुयायी भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि के भी अलंकृत और अतिरञ्जित वैदुषीमण्डित काव्य भी हैं विद्वज्जनों एवं साधारणजनों में इन सभी काव्यों के प्रति एक सी रुचि नहीं है किसी को विदग्धता प्रिय है तो किसी को अतिरञ्जना और चमत्कार। माघ के विषय में उपलब्ध सूक्तियाँ भी लोक की विविध रुचि की परिचायिका हैं। यदि किसी व्यक्ति को किसी कवि विशेष की कोई एक बात अच्छी लगती है तो

दूसरे को उसकी कोई दूसरी बात। यही बात प्राय: सभी कवियों के विषय में है। इन सूक्तियों से भी यही बात स्पष्ट होती है। उदाहरणार्थ एक सूक्ति में माघ की श्रेष्ठता इस प्रकार बतलाई गई है—

माघे सन्ति त्रयो गुणा

अर्थात् माघ में उपमा वैशिष्ट्य, अर्थ गौरव तथा पदलालित्य तीनों ही गुण विद्यमान हैं, यही तीनों गुण कवित्व की सर्वोत्कृष्टता के सूचक हैं। यद्यपि महाकवि कालिदास की उपमायें विश्व विख्यात हैं, भारवि का अर्थ गौरव भी इसी प्रकार सर्वविदित है, और ललित पद शैय्या के क्षेत्र में दण्डी सिद्धहस्त कवि कहे जाते हैं, पर सूक्तिकार ने यहाँ माघ में इन तीनों गुणों का समावेश कर मानों इन तीनों कवियों से माघ कवि को श्रेष्ठ ठहराया है, यदि ऐसा है तो यह केवल रुचि वैचित्र्य ही कहा जा सकता है। यद्यपि माघ में सुन्दर उपमाओं की कमी नहीं है पर उन्हें कालिदास की स्वाभाविक मधुर एवं अप्रयत्न साध्य उपमाओं के समक्ष रखना रुचि वैचित्र्य ही माना जा सकता है, वास्तविकता नहीं।

"उपमा कालिदासस्य भारवे रर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥"

यद्यपि इस सूक्ति में कालिदास को उपमा के प्रयोग में सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है पर कालिदास की कवित्व ख्याति का कारण केवल उपमालंकार ही नहीं है। कालिदास की उपमा योजना, सरसता रम्यता विविधता एवं मार्मिकता की दृष्टि से बेजोड़ हैं सही, पर यही उनकी प्रधान विशेषता नहीं है उनकी सम्विधान कुशलता रस योजना भावाभिव्यञ्जना ध्वन्यात्मक एवं प्रासादिक शैली भी अद्वितीय है। कालिदास की उपमायें भावानुकूल, श्लेष की जटिलता से रहित, अनूठी एवं विषयानुरूप हैं। स्पष्ट एवं नित्य व्यवहार में देखी जाने वाली होने के साथ-साथ वे शास्त्रीय विषयों से अनुप्राणित हैं। "उपमा कालिदासस्य" में उपमा शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित व्यापक अर्थ में न होकर सभी सादृश्य मूलक अलंकारों के लिये हुआ है, क्योंकि इन अलंकारों के प्रयोग में भी कालिदास की कल्पना उतनी ही रमणीय है जितनी कि उपमा के प्रयोग में। माघ में भी सुन्दर उपमाओं का प्रयोग है। सर्वत्र साधारण ही नहीं माघ में कहीं-कहीं शास्त्रीय उपमायें भी देखी जाती हैं—

"शब्द विद्येव नो भाति राजनीति रपस्पशा"

पस्पशाह्निक भाष्य के बिना जिस प्रकार व्याकरण विद्या सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार स्पश अर्थात् गुप्तचरों के बिना राजनीति शोभित नहीं होती। जिस प्रकार बौद्धमत में पञ्चस्कन्धों के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं होतो उसी प्रकार पञ्च अगों के अतिरिक्त राजाओं के लिये कोई अन्य मन्त्र नहीं होता—

सौगता नामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्।

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी सुन्दर उपमायें द्रष्टव्य हैं। शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।

प्रथम सर्ग में आकाश से उतरते नारद जी के लिये कवि ने अनेक सुन्दर उपमाओं की योजना की है—

"वराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव"

इसके अतिरिक्त प्रथम सर्ग के ६, १५, १६, १९, आदि श्लोक द्रष्टव्य हैं।

अर्थ गौरव के लिये महाकवि भारवि विख्यात हैं, वे केवल कवि और पण्डित ही नहीं राजनीति निष्णात भी हैं। इसीलिये उनमें विद्वज्जनों एवं राजनीतिज्ञों जैसी थोड़े में ही बहुत कुछ कह डालने की क्षमता है। उनके महाकाव्य किरातार्जुनीय में उनके इस विशिष्ट अर्थ गौरव के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

सहसा बिना समझे बूझे कोई काम न करना चाहिए अन्यथा उसे विपत्ति में पड़ना पड़ता है, जो व्यक्ति भली-भाँति सोच विचार कर काम करता है उसके पास गुणलुब्धा लक्ष्मी स्वयं आती है—

सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम्
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

इसी प्रकार के द्वितीय सर्ग में अनेक राजनीति परक अर्थ गौरवविशिष्ट उदाहरण हैं। राजनीति सम्बन्धी अर्थ गाम्भीर्य के साथ भारवि में कहीं-कहीं गहरा व्यङ्ग्य भी रहता है, यह व्यङ्ग्य श्रोता पर तुरन्त प्रभाव डालने वाला होता है। भारवि के व्यङ्ग्य इसीलिये गहरी चोट करने वाले होते हैं,

क्योंकि उनमें एक गहरी प्रभाव शालिनी बात छिपी रहती है इस प्रकार की व्यङ्ग्य परक उक्तियों से वे श्रोता को तदनुकूल आचरण करने के लिये विवश कर देते हैं, उदाहरणार्थ प्रथम सर्ग में द्रौपदी की उक्तियों में यह देखा जा सकता है। जब द्रौपदी ने देखा कि युधिष्ठिर पर अन्य किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ रहा है तब वह अपना व्यङ्ग्य वाण छोड़ती हुई कहती है—

परैस्त्वदन्यः क इवापहारये—
न्मनोरमा मात्म वधूमिव श्रियम् ।

परन्तु जब युधिष्ठिर ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब वह उनके क्षत्रियत्व एवं वीर भाव की ओर संकेत करती हुई एक अन्य व्यङ्ग्य करती है—

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रम—
श्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं
जटाधरः सन् जुहुधीह पावकम् ॥

वस्तुतः भारवि जैसा अर्थ गौरव एवं अर्थ गाम्भीर्य अन्यत्र न मिलेगा। महाकवि माघ ने भी यहीं से कुछ सीखा है और अपने काव्य में भी क्वचित् अर्थ गौरव पूर्ण श्लोक लिखे हैं, यद्यपि भारवि के सामने माघ के इन स्थलों का कोई विशेष महत्व है तथापि उनमें भी अनेक स्थलों पर अर्थ गौरव देखा जाता है। माघ का पाण्डित्य सर्वाङ्गीण था इसमें सन्देह नहीं, भारवि की विशेषता इस सम्बन्ध में यदि राजनीति विषयक है तो माघ में सर्वतोमुखी अर्थगौरव दृष्टिगत होता है जिसके सर्वत्र नहीं तो द्वितीय और नवम सर्ग में अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जो कि न केवल उनके अर्थ गौरव को ही अपितु उनके राजनीति विषयक एवं अन्य शास्त्र विषयक ज्ञान को भी प्रकट करते हैं—

सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ।

पदलालित्य के क्षेत्र में दण्डी सिद्धहस्त कवि हैं इसमें सन्देह नहीं उनकी रचनाओं की ललित मनोरम शब्द योजना इस बात की परिचायिका है। पदलालित्य के साथ-साथ उनमें वस्तुविन्यास, चरित्र-चित्रण और प्रस्तुतीकरण की भी अपूर्व क्षमता है समास रहित मधुर कोमल कान्त पदावली का प्रयोग उनकी अपनी विशेषता है उन जैसी अभिव्यञ्जना की स्वाभाविकता और अर्थ की स्पष्टता अन्यत्र नहीं देखी जाती, शब्द योजना में लालित्य

होते हुये भी उसकी प्रभावोत्पादकता एवं अर्थ प्रतीति में कहीं बाधा नहीं पड़ती, उनकी अनुप्रासमयी एवं अलंकृत भाषा भी स्पष्ट सरस एवं विषयानुकूल ही है साथ ही वह संक्षिप्त एवं संयत भी है।

यद्यपि प्रस्तुत सूक्ति में दण्डी के पदलालित्य की ही प्रशंसा की गई है पर, "नैषधे पदलालित्यम्" इस उक्ति के अनुसार नैषध महाकाव्य में भी अपूर्व पदलालित्य है, इसके प्रथम सर्ग में हंस की उक्तियों में करुण के साथ साथ बहुत ही सुन्दर पदशैय्या की योजना की गई है, इसके द्वितीय और तृतीय सर्गों में कल्पना एवं पदलालित्य दर्शनीय है वस्तुतः दण्डी में उतना उत्कृष्ट पदलालित्य नहीं है जितना कि श्रीहर्ष में हैं तथापि माघ के प्रशंसक इस सूक्ति के रचियता ने न जाने क्यों श्रीहर्ष के पदलालित्य पर ध्यान नहीं दिया है। अस्तु यह भी रुचि वैचित्र्य का ही कारण हो सकता है।

दण्डी के पदलालित्य से कम उत्कृष्ट पदलालित्य माघ में नहीं है अपितु कही कहीं पर वह दण्डी से भी बढ़कर है—

"नवपलाशपलाशवनं पुरः
स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्त मलोकयत्
स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥"

इससे भी उत्कृष्ट षष्ठ सर्ग में श्लोक हैं जहाँ अपूर्व पदलालित्य देखा जाता है—

"मधुरया मधुबोधितमाधवी,
मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनि—
भृता निभृताक्षर मुज्जगे॥"

इस प्रकार पदलालित्य की दृष्टि से माघ में अनेक उत्कृष्ट श्लोक हैं। एक बात यह भी कि इनका पदलालित्य दण्डी या श्रीहर्ष की अपेक्षा अधिक चमत्कारक है।

इस प्रकार माघ में उपमा अर्थ गौरव तथा पदलालित्य तीनों ही गुण पाये जाते हैं अतः "माघे सन्ति त्रयो गुणाः" यह कथन पूर्णतः तो नहीं पर अंशतः तो सही ही है, इसका कारण भी स्पष्ट है कि माघ ने अपनी रचना

अपनें पूर्ववर्ती कालिदास भारवि आदि महाकवियों के अनुकरण पर की है। जहाँ उन्होंने एक ओर कालिदास के सादृश्य मूलक अलंकारों के प्रयोग के कौशल को अपनाया है वहाँ उन्होंने भारवि के अर्थ गाम्भीर्य का भी अनुकरण किया है और पदलालित्य के लिये आचार्य दण्डी की शब्द योजना का अनुकरण किया है। यही कारण है कि माघ में कहीं कहीं यह तीनों ही गुण काव्य शोभा को बढ़ाते देखे जाते हैं। वस्तुतः महाकवि माघ में एक विलक्षण काव्य प्रतिभा विद्यमान थी अतः उन्होंने जो कुछ भी लिखना चाहा है वह सुन्दर ही बना है। अतः माघ में यदि उपर्युक्त तीनों गुण भी मिलते हैं तो आश्चर्य नहीं,फिर भी यह सूक्ति यदि असत्य नहीं तो अतिरञ्जित अवश्य है।

इसी प्रकार माघ की प्रशंसा में एक सूक्ति और भी प्रचलित है—

नव सर्गे गते माघे नवशब्दोऽपि न विद्यते

वस्तुतः महाकवि माघ अन्य कवियों की भाँति केवल कल्पना जगत् के प्राणी ही नहीं थे अपितु वे शब्द तत्व के ज्ञाता व्याकरण शास्त्र निष्णात महापण्डित भी थे। इसीलिये भारतीय विद्वान् उन्हें पहले शब्दशास्त्र पारङ्गत विद्वान् और तब कवि मानते रहे हैं, और वस्तुतः यह बात है भी, अन्य कवियों में तो किसी एक या दो काव्य गुणों की विशेषता देखी जाती है पर महाकवि माघ की प्रतिभा सर्वतोमुखी है, इनके पूर्ववर्ती महाकवि भारवि यदि राजनीति निष्णात कवि थे और कालिदास मूलतः एक विदग्ध कवि थे तो माघ इन दोनों विशेषताओं के साथ साथ शब्दशास्त्र के उद्भट विद्वान् भी थे। माघ जैसी सर्वातिशायिनी प्रतिभा अन्य किसी कवि में नहीं देखी जाती, उनके पास जो अक्षय एवं अभिनव शब्द भण्डार है और उनके यथावत् प्रयोग के लिये उनके पास जो कलात्मक सज्जा एवं कल्पना का चातुर्य है, वह अन्यत्र न मिलेगा। माघ के पूर्ववर्ती या समकालीन किसी भी कवि में इतनी अभिनव शब्द राशि देखने को नहीं मिलती। यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य में सर्वत्र नये-नये शब्दों का बड़ी प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है। उनका प्रत्येक श्लोक अभिनव शब्दों का उदाहरण है। वस्तुतः न उनके पास अलंकारों की कमी है और न कल्पनाओं की, जिस किसी भी काव्य गुण को उनमें देखा जाय वही उनमें अक्षय एवं अभिनव प्रतीत होगा, अतः उनके प्रत्येक पद्य में उनके गम्भीर पाण्डित्य की अमिट छाप है। अद्वितीय प्रतिभा और सर्वाङ्गीण पाण्डित्य के साँचे में ढालकर उनके भाव एक

नवीन प्रभा चमत्कार और आकर्षण उत्पन्न करके वाले हैं। यद्यपि माघ के आदर्श महाकवि भारवि ही रहे हैं उन्हीं के काव्य की सुशीतल छाया के आश्रय में माघ ने अपनी रचना की है, पर भारवि के पास माघ जैसा शब्द भण्डार नहीं था, अन्य बातों में यद्यपि माघ पर भारवि का स्पष्ट प्रभाव है और उन्होंने भी भारवि के काव्य का बड़ी कुशलता और सफाई के साथ अनुकरण किया है, पर अभिनव शब्द प्रयोग में माघ भारवि से कहीं अधिक आगे निकल गये हैं। इसी प्रकार यद्यपि माघ भट्टि से भी बहुत अधिक प्रभावित हैं पर जहाँ भट्टि कोरे वैयाकरण हैं वहाँ माघ वैयाकरण होने के साथ कवि भी हैं। इस प्रकार भारवि और भट्टि से प्रभावित होते हुये भी माघ में मौलिकता है और सर्वतोमुखी प्रतिभा है। अतएव उनके काव्य में अनेक ऐसे शब्द हैं जो कि व्याकरण शास्त्र से परिनिष्ठित होते हुये भी सर्वथा नवीन एवं अप्रचलित हैं, यथा पर्यपूपुजत्, अचूचूरत्, पारे जलधं, मध्ये जलधं, प्रतिचस्किरे, नखम्पचः आदि। वस्तुत महा वैयाकरण होने के कारण उन्हें किसी शब्द विशेष के प्रयोग के विषय में सोचना नहीं पड़ता, आवश्यकतानुसार वे नवीन शब्दों का निर्माण कर प्रयोग करते चलते हैं, समस्त पाणिनि व्याकरण समिट कर उनकी दृष्टि के सामने ही बना रहता है, नवीन शब्दों के लिये किसी ग्रन्थ विशेष को देखने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती, कहीं कहीं प्रचलित एवं प्रायः एकार्थ में रूढ जैसे शब्दों का उन्होंने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ द्वारा भिन्नार्थ में भी प्रयोग किया है जैसे गोत्रभित् शब्द इन्द्रार्थवाचक है पर उन्होंने इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लेकर 'पति' अर्थ में प्रयोग है, क्योंकि पति, गोत्र का भेद करने वाला होता है। इसी प्रकार उनके व्याकर्तुम् एवं खट्वयन्ति आदि प्रयोग भी दर्शनीय है। इससे भी अधिक उनकी विशेषता कर्मवाच्य क्रिया के पदों के प्रयोग में है, जितने सुन्दर और सार्थक तथा विषयानुकूल शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है उतना आज तक कोई कवि नहीं कर सका है। शब्द प्रयोग ही नहीं लकारार्थ प्रयोग की उनकी कुशलता का एक उदाहरण भी दर्शनीय है—

पूरी मवस्कन्द लुनीहि नन्दनम्
मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली
य इत्थ मास्वास्थ्य महर्दिवं दिवः॥

उनके शब्द प्रयोग की एक यह भी विशेषता है कि उनका कोई भी शब्द कहीं भी अपने साधारण वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक विशेष अर्थ का भी सूचक होता है, विशेषण रूप में प्रयुक्त मधुसुधन, रेवतीजानि:, आदि शब्द एक विशेष अभिप्राय के सूचक हैं, कहीं कहीं तो कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनके पीछे एक पूरी पौराणिक कथा सम्बद्ध है, तात्पर्य यह कि उनकी शब्द राशि प्राय: व्यञ्जनात्मक है और यह उनका भाषा पर तथा व्याकरण शास्त्र पर पूर्ण अधिकार सूचित करता है।

माघ के अध्ययन से स्पष्ट है कि उसमें नवीन शब्दों का अक्षय भण्डार है। एक श्लोक के बाद दूसरे और फिर तीसरे श्लोक को पढ़कर जहाँ पाठक उनके कवित्व की प्रशंसा करने लगता है वहाँ वह नवीन नवीन शब्दों के कुशल प्रयोग को देखकर उनके अपूर्व शब्द भण्डार की भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है, पर इतना अवश्य है कि साधारण पाठक भले ही उनके इस नवीन शब्द प्रयोग से ऊब उठे पर व्याकरण शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखने वाले पाठक के लिये इन नवीन शब्द प्रयोगों में उतना ही आनन्द मिलता है जितना कि एक विदग्ध कवि को उनके सरस मधुर कवित्व से आनदोपलब्धि होती है। इसीलिये कहा गया है कि माघ काव्य विद्वज्जनों के अनुरञ्जन के लिये है, साधारण पाठकों के लिये नहीं। उसमें कालिदास जैसी सद्य: अर्थ प्रतीति, सरस प्रासादिकता एवं मधुर कोमल कान्त पदावली नहीं है, शास्त्रज्ञ ही उनके काव्य से अनुरञ्जन कर सकता है, साधारण पाठक नहीं।

माघ के काव्य के इस प्रकार अद्‌भुत शब्द भण्डार को देखकर और नवम सर्ग तक पढ़कर ही अपूर्व नवीन नवीन शब्द राशि पाकर ही सम्भवत: किसी ने यह कह डाला है कि "नव सर्गे गते माघे नव शब्दोऽपि न विद्यते" नवम सर्ग तक ही क्षण क्षण में नवीन शब्द राशि को देखकर वह सहसा कह उठा है कि इससे अधिक अब नवीन शब्द न मिलेंगे, अत: नवम सर्ग तक ही पढ़ना आवश्यक है।

यद्यपि यह उक्ति अतिरञ्जित है तथापि यह सर्वथा असत्य नहीं, माघ के अपूर्व शब्द भण्डार के लिये यह उपयुक्त है।

इसके अतिरिक्त माघ काव्य के विषय में एक उक्ति और भी श्रुतिगत होती है जिसमें माघ के साथ साथ कालिदास की भी विशेषता बतलाई गई है—

मेघे माघे गतं वयः

कहा जाता है कि एक वार कोई एक विद्वान युवक एक वृद्ध पण्डित के पास गया और उससे पूँछा कि आपने किन-किन काव्यों का अध्ययन और अनुशीलन किया है और उसमें आपकी बुद्धि का कितना और कैसा विकास हुआ है, क्या अव भी आपको कुछ पढ़ना शेष है, उसने उत्तर दिया कि पढ़ा तो मैंने बहुत है पर यदि यह जानना चाहो कि सम्पूर्ण जीवन मैंने किन ग्रन्थों के अध्ययन में विताया है और अब भी विता रहा हूँ और उत्तरोत्तर नवीन नवीन अनुभूतियाँ प्राप्त कर रहा हूँ तो इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि "मेघे माघे गतं वयः" अर्थात् कालिदास कृत मेघदूत और माघकृत शिशुपाल वध महाकाव्य के अध्ययन में ही मैंने अपना पूरा जीवन व्यतीत कर दिया है और अव भी उन्हीं को पढ़ रहा हूँ।

यद्यपि इस कथन में अतिशयोक्ति प्रतीत होती है पर यह कथन सत्य से परे नहीं है। वस्तुतः इन दो ग्रन्थ रत्नों में आदि काव्य रामायण से लेकर अव तक का समस्त काव्य समा जाता है, क्योंकि जैसा ऊपर वताया जा चुका है कि अव तक मुख्यतः दो प्रकार की काव्य शैली ही प्रचलित रहीं हैं एक कालिदास और उनके पूर्ववर्ती काव्यों की रसमयी स्वाभाविक मधुर एवं सरल सरस प्रासादिक शैली और दूसरी भारवि से आरम्भ होने वाली अलंकृत समास बहुला पण्डित जनानुरञ्जिनी कृत्रिम शैली जिसे विचित्र मार्ग कहा गया है। मेघदूत प्रथम शैली का और माघ-काव्य द्वितीय शैली का प्रतिनिधित्व करता है। सहृदय एवं विदग्ध पाठकों के लिये मेघदूत तथा विद्वज्जनों के लिये माघ काव्य प्रतिनिधि रचानायें हैं, यदि एक ही व्यक्ति इन दोनों का एक साथ रसास्वादन करना चाहे तो इसमें सन्देह नहीं कि उसे चिरकाल तक इन ग्रन्थों का अनुशीलन करना ही पड़ेगा और यदि वह ऐसा कर सका तो फिर उसके लिये और कुछ पठनीय और आस्वादनीय रह भी नहीं जायेगा, क्योंकि मेघदूत एक छोटा सा गीत काव्य होने हुये भी कालिदास की वह अनुपम रचना है चाहे कल्पना की दृष्टि से चाहे रस की दृष्टि से और चाहे प्रकृति के अन्तः तथा वाह्य दृष्टि कोण से देखें मेघदूत एक अद्वितीय रचना है, एक उत्तमोत्तम काव्य में जितने गुण अपेक्षित हैं उनके साथ-साथ इसमें सरस्वती के वरद पुत्र कालिदास का सच्चा हृदय ओतप्रोत हो रहा है। मेघ के मार्ग के रूप में वस्तुतः भारत की प्राकृतिक भौगोलिक

स्थिति का इसमें सुन्दर चित्रण है तथा मानव हृदय की अनुभूतियों का सजीव चित्र है। यक्ष और यक्षिणी का जितना मनोवैज्ञानिक चित्रण, मानव हृदय के सच्चे पारखी महामवि कालिदास कर सके हैं उतना तब से फिर अन्यत्र देखने को नहीं मिला और न मिल सकता है वस्तुतः यह रचना अद्वितीय और अनुपम ही रही है और रहेगी भी। अतः ऐसी रचना के रसास्वादन में यदि कोई जीवन व्यतीत कर देता है तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि मेघदूत संस्कृत साहित्य का अनूठा रत्न है।

दूसरी ओर शिशुपाल वध महाकाव्य अपनी शैली का अनुपम ग्रन्थ है। मनुष्य को जहाँ अनुपम रसास्वाद की आवश्यकता होती है, वहाँ उसे उत्तरोत्तर ज्ञान वृद्धि की भी आवश्यकता है। माघ में यद्यपि मेघदूत जैसी रस निमग्न करने की क्षमता तो नहीं है तथापि उसमें विद्वज्जनों के लिये काव्य कौशल, अगाध पाण्डित्य और अक्षय शब्द-भण्डार की क्षमता अवश्य है। माघ की यह कृति उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का प्रतीक है। इसमें अद्भुत काव्य-कौशल के साथ-साथ गम्भीर पाण्डित्य है तथा अपूर्व शब्द भण्डार है, वस्तु वर्णन की जो कुशलता माघ में देखी जाती है वह अन्यत्र दुःप्राप्य है, चाहे वह नगर वर्णन हो, और चाहे सैन्य वर्णन अथवा युद्ध वर्णन हो सर्वत्र कवि का वैशिष्ट्य दृष्टिगत होता है, इन वर्णनों में जो चित्रोपमता है वह कवि की अपनी विशेषता है वस्तु वर्णन कौशल से कवि ने इति वृत्तात्मक वर्णनों को भी सरल बना दिया है, इनके प्रायः सभी वर्णन अतिविस्तृत एवं अनुरज्जिन होते हुये भी सजीव एवं प्रभावपूर्ण है। कवि द्वारा किया गया द्वारिकापुरी का भव्य वर्णन और इसमें उत्प्रेक्षा का चमत्कार अति मनोहर है। वस्तुतः द्वारिकापुरी को ब्रह्मा ने अतिरुचि के साथ मानो स्वयं बनाया है, इसीलिये वह मानो विश्वकर्मा की चरमोत्कर्षता को प्राप्त शिल्प कला का निदर्शन हैं। समुद्र के दर्पण के तुल्य स्वच्छ जल में वह स्वर्ग के प्रतिबिम्ब जैसी दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ तृतीय सर्ग के ३० ३५ ३८ ४३ आदि श्लोक द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रकार आकाश से उतरते हुये नारद जी का, तथा यात्रा एवं युद्ध का वर्णन भी कवि की वर्णन कुशलता का परिचायक है। ऋतु वर्णन तथा रैवतक पर्वत के वर्णन विशेषतः दर्शनीय हैं। इसके अतिरिक्त कवि के पाण्डित्य एवं बहुज्ञता तथा काव्य कौशल एवं अपूर्व शब्द भण्डार के विषय में

ऊपर लिखा जा चुका है जो कि इस महाकाव्य की उत्कृष्टता का पारिचायक है।

महाकवि माघ रससिद्ध कवि हैं और उनमें अपूर्व कवित्व शक्ति है इसीलिये आज विद्वत्समाज में उनकी यह कृति बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ देखी जाती है और विद्वत्समाज माघ के शब्द कौशल पर मुग्ध होकर उसके अध्ययन में पर्याप्त समय देने लगा है। भले ही कालिदास का मेघदूत एक सुन्दर मानसरोवर हो जो जन-जीवन के हृदय का आवर्जन करता हो और उसमें रसनिमग्न करने की अपूर्व क्षमता हो पर माघ का काव्य साधारण जनों के ही लिये नहीं अपितु पण्डितम्मन्य पण्डितों के लिये भी अगाध रत्नाकर है जिसके तल तक पहुँचने और एक दो रत्न खोज निकालने के लिये पर्याप्त समय अपेक्षित है। कालिदास जनता के कवि थे पर माघ कवियों के भी कवि तथा पण्डितों के भी पण्डित हैं या उनके पथ प्रदर्शक, उनकी कृति से काव्यानन्द प्राप्त करने की क्षमता काव्य-प्रेमियों और काव्य रसिकों में ही हो सकती है, यही कारण है कि माघ के अध्ययन में लोग एक लम्बा समय लगा कर ही उसे समझ पाते हैं।

निष्कर्ष यह कि कालिदास यदि रसिक जनों के हृदय को आकृष्ट करने वाले सरस काव्य के रचयिता थे तो माघ सहृदय कवियों एवं विद्वज्जनों के भी मन को लुभाने वाले सर्वगुणसम्पन्न काव्यकार थे। अतः यदि कोई रसिक जन शृङ्गार रस में अवगाहन करना चाहे तो उसे मेघदूत के अध्ययन में पर्याप्त समय लगाना चाहिए और यदि कोई विद्वान् बहुज्ञता, अगाध पाण्डित्य, अपूर्व शब्द राशि, वर्णन पटुता, उत्तमोत्तम भाव व्यञ्जना, अद्भुत कल्पना चातुर्य, उद्दीपक प्रकृति वर्णन तथा अलंकृत पदावली की योग्यता प्राप्त करना चाहे तो उसे माघ के काव्य के अवगाहन में पर्याप्त समय देना चाहिये। अतः यह उक्ति "मेघे माघे गतं वयः यद्यपि अतिरञ्जित है तथापि वह माघ के काव्य पर अंशतः यथार्थ सिद्ध होती है।

इन सूक्तियों के अतिरिक्त माघ काव्य की प्रशंसा में अन्य सूक्तियाँ भी श्रुतिगोचर होती हैं जिनमें माघ की कहीं कालिदास से, कहीं भारवि से कहीं अन्य कवियों से प्रायः तुलना की गई है, अतः इस प्रसंग में कुछ अन्य सूक्तियों पर भी विचार कर लेना चाहिये, ऐसी ही एक सूक्ति है—

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः

अर्थात् भारवि की काव्य प्रतिभा तभी तक शोभा पाती है जब तक कि माघ के माघ काव्य का उदय नहीं होता सूर्य की दीप्ति तभी तक अपना प्रभाव रखती है जब तक माघ मास की कड़ी ठण्ड नहीं पड़ती अर्थात् माघ मास की सर्दी में सूर्य की धूप भी कुछ नहीं कर पाती ।

प्रस्तुत सूक्ति द्वारा माघ को भारवि से अधिक उत्कृष्ट बतलाया गया है, यह किसी माघ प्रशंसक कवि की अतिरञ्जित उक्ति है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित सूक्ति में भी भारवि से माघ को उत्कृष्ट बतलाया गया है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे ।
स्मरन्तो भारवे रेव कवयः कपयो यथा ।। (धनपाल)

वानर माघ के महीने के अत्यधिक जाड़े से पीड़ित होकर जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश का स्मरण करते हुए भी उछल कूद नहीं मचाते उसी प्रकार माघ की काव्य रचना को देखकर भारवि के पदों का स्मरण करते हुए भी बड़े-बड़े कवियों का भी उत्साह शिथिल पड़ जाता है अर्थात् भारवि के कवित्व से प्रभावित भी विद्वज्जन माघ के काव्य के सामने भारवि को कोई महत्व नहीं दे पाते । तात्पर्य यह कि कवित्व की दृष्टि से भारवि की अपेक्षा माघ कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं । माघ के काव्य के उदय के बाद भारवि का जो अब तक कवित्व क्षेत्र में प्रभाव था वह फीका पड़ जाता है, और वास्तविकता भी यही है माघ काव्य के पढ़ने के पूर्व तक ही भारवि का प्रभाव पाठक के मन में रहता है, माघ के अध्ययन के बाद वह सब समाप्त हो जाता है । इसका कारण भी स्पष्ट है कि माघ ने अपनी रचना इस कौशल से की है कि उनके काव्य के आगे भारवि का काव्य टिक न सके । इसी लिए माघ ने अपने काव्य में अक्षरशः उन सब बातों और विषयों को तो रखा ही है जो भारवि में हैं पर उनमें आगे बढ़ने के लिए उन्होंने उन पाण्डित्य पूर्ण बातों का तथा विषयों का और भी समावेश कर दिया है जो भारवि में देखने को नहीं मिलती । दूसरी बात यह कि माघ का प्रस्तुतीकरण भी भारवि से कहीं अधिक उत्कृष्ट है अतः माघ कई दृष्टियों से भारवि से आगे बढ़ गये हैं इन सूक्तियों में तथा अन्य इसी प्रकार की सूक्तियों में माघ को भारवि से उत्कृष्ट बतलाया गया है, उसमें वास्तविकता है कोरी

सूक्ति मात्र नहीं। नीचे दी गई माघ और भारवि की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

तुलनात्मक समीक्षा

माघ और भारवि

यह तो सर्व विदित ही है कि कोई भी व्यक्ति विना अतीत का आलम्बन ग्रहण किये अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता, किसी भी विषय का प्रतिपादन करने के लिये उसे अपने अतीत को अवश्य देखना पड़ता है, यही वात कलाकार पर भी लागू होती है, प्रत्येक कलाकार प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप में अपने पूर्ववर्ती कलाकारों का, किसी न किसी रूप में अपनी रुचि के अनुसार, दाय ग्रहण करता ही है, वह इस पूर्ववर्ती दाय से प्रयत्न करने पर भी वच नहीं पाता, कियदंश में ही सही पर उसे पूर्व दाय स्वीकार करना ही पड़ता है। पूर्वानुसरण की यह वात उन कलाकारों पर भी अंशत: लागू होती है जो कि अपने को सर्वथा स्वच्छन्दगामी नवीन पद्धति का प्रवर्तन करने वाला भी मानते हैं, यह वात दूसरी है कि कोई कलाकार किसी विषय में अपने पूर्ववर्ती कलाकार से उत्कृष्ट हो जाय,पर फिर भी उस पर पूर्वदाय का भार रहता ही है। कलागत उत्कृष्टता या अनुत्कृष्टता सापेक्ष शब्द हैं इसके लिए समकालीन या पूर्वकालीन कलाओं को देखना ही पड़ेगा।

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो माघ कवि ने न केवल कालिदास, का ही अपितु भारवि का भी दाय ग्रहण किया है, भट्टि का दाय तो उन पर स्पष्ट ही है। भारवि के किरातार्जुनीयम् और माघ के शिशुपाल वध को समक्ष रखकर यदि तुलनात्मक दृष्टि से दोनों रचनाओं को देखा जाय तो यह कहना अत्युक्त न होगा कि माघ भारवि से केवल प्रभावित ही नहीं थे अपितु वे उनसे सहसा अभिभूत भी हो उठे थे और उनके मन में भारवि से आगे बढ़ने की स्पर्धा भी उत्पन्न हो गई थी, अब तक किरातार्जुनीय विद्वत्समाज में समादृत हो चुका था अतः माघ के लिये यह स्वाभाविक ही था कि उनकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि जो कुछ उनकी रचना में हो वह सब कुछ भारवि से किसी भी दृष्टि से कम न हो, साथ ही कुछ ऐसा भी हो जो भारवि में न हो जिससे कि विद्वत्समाज उनकी रचना के आगे भारवि को भूल जाय, वस्तुत: माघ अपने इस प्रयास में पूर्ण सफल हुये हैं, आज विद्वज्जनों की ऐसी ही धारणा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि माघ ने किरातार्जुनीयम् को सामने न रखकर उसके एक-एक विषय का अनुकरण एवं अनुसरण करते हुये अपने ग्रन्थ की रचना की है और प्रत्येक विषय में कुछ अपनी मौलिकता और विशेषता प्रदर्शित करने का सफल प्रयास किया है, अतः यदि यह कहा जाय कि माघ ने न केवल भारवि को अपना आदर्श ही माना अपितु उनका अन्धानुसरण भी किया है। नीचे लिखी दोनों ग्रन्थों की तुलना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

(१) "किरातार्जुनीय" और "शिशुपाल वध" दोनों ही महाकाव्यों का कथा स्रोत एक ही है अर्थात् दोनों ने अपना-अपना कथानक महाभारत से ग्रहण किया है।

(२) दोनों ही ने महाकाव्य थे लक्षण का पूर्णतया पालन किया है।

(३) माघ सम्प्रदायतः वैष्णव थे अतएव उन्होंने महाभारत से कृष्ण सम्बन्धी कथानक को चुना, पर भारवि शैव थे अतः उन्होंने महाभारत से शिव सम्बन्धी कथानक को लेकर अपनी रचना की। अतएव माघ में विष्णु का महत्व है और भारवि में शिव का।

(४) दोनों ही महाकाव्यों का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है— "श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्—माघ:" "श्रियः कुरूणा मधिपस्य पालिनीम्—किरात।"

(५) दोनों ही महाकवियों ने अपने-अपने ग्रन्थ के आरम्भ में नमस्कारात्मक अथवा आशीर्वादात्मक मंगलाचरण न करके वस्तु तत्व का निर्देश करते हुये ग्रन्थारम्भ कर दिया है, केवल श्री शब्द के प्रयोग को ही मंगलाचरण रूप में मान लिया गया है।

(६) भारवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है, माघ ने भी प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में लक्ष्मी वाचक श्री शब्द का प्रयोग किया है।

(७) दोनों ही वाक्यों में वीर रस प्रधान है तथा शेष रस अप्रधान रूप से अभिव्यक्त हुये हैं।

(८) दोनों का वर्णन क्रम भी एक ही जैसा है—

(१) दोनों ही महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश कथन है—किरात में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर को सन्देश दिया गया है, माघ में नारद जी द्वारा श्रीकृष्ण को इन्द्र का सन्देश दिया गया है।

(२) किरात के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर भीमसेन और द्रौपदी के बीच राजनीति विषयक वार्तालाप होता है, माघ के भी द्वितीय सर्ग में श्रीकृष्ण बलराम और उद्धव के बीच राजनीति विषयक मन्त्रणा होती है।

(३) किरात में व्यासदेव पाण्डवों का मार्ग दर्शन करते हैं, और माघ में नारद जी शिशुपाल के वध का प्रस्ताव रखकर पथ प्रदर्शन करते हैं।

(४) किरात में व्यासदेव के परामर्श के अनुसार अर्जुन शंकर जी की तपस्या करने के लिये इन्द्र कील पर्वत पर जाते हैं, माघ में श्रीकृष्ण इन्द्र प्रस्थ जाते हुए रैवतक पर्वत पर ठहरते हैं।

(५) किरात में चतुर्थ सर्ग में हिमालय का अलंकृत एवं विस्तृत वर्णन किया गया है, माघ के चतुर्थ सर्ग में भी रैवतक पर्वत का अलंकृत एवं विस्तृत वर्णन है, दोनों में यमक अलंकार का खूब प्रयोग किया गया है।

(६) भारवि ने अप्सराओं के विहार का बड़ा ही भव्य एवं चारु चित्रण किया है, माघ ने पुराङ्गनाओं के विलास वर्णन में अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है।

(७) चतुर्थ से नवम सर्ग तक प्रायः दोनों ने ही प्रकृति वर्णन किया है जिसमें पर्वत, ऋतु, वन, संध्या, रात्रि, आदि का विस्तृत एवं कवित्वपूर्ण वर्णन है।

(८) दोनों ने ही चतुर्थ सर्ग में विविध छन्दो का प्रयोग किया है, तथा भारवि ने १५ वें सर्ग में तो माघ ने १९ वें सर्ग में चित्र काव्य प्रस्तुत किया है इस प्रकार दोनों ने ही विविध चित्र वन्धों द्वारा अपने-अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है।

(९) दोनों ही ने युद्ध वर्णन किया है, किरात में किरात वेषधारी शिव के साथ अर्जुन का युद्ध होता है तो माघ में श्रीकृष्ण और शिशुपाल के मध्य युद्ध का वर्णन किया गया है।

(१०) दोनों ही काव्यों में अपने-अपने विपक्षी का अपमान करने के

लिये दूत भेजा गया है, दोनों में ही अपने-अपने विपक्षियों के साथ वादविवाद एवं संघर्ष का वर्णन है।

इतना ही नहीं माघ ने भारवि के भावों का भी आश्रय लेकर कितने ही श्लोक लिखे हैं, जहाँ तक हो सका है माघ ने भारवि का कोई भी भाव या आशय छोड़ा नहीं है और आगे ही बढ़ने का प्रयास किया है तथा कवित्व की दृष्टि से उनसे आगे बढ़ने में सफल भी हो सके हैं। माघ कवि का यह श्लोक—

हरत्यघं सम्प्रति हेतु रेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्॥

महाकवि भारवि के इस श्लोक के भाव को लेकर ही लिखा गया है—

श्रियं विकर्षत्य पहन्त्यघानि श्रेयः परिस्तौति तनोति कीर्तिम्।
सन्दर्शनं लोक गुरो रमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते॥

इससे प्रतीत होता है कि माघ के समय तक भारवि की काव्य क्षेत्र में खूब प्रतिष्ठा जम चुकी थी अतः भारवि की प्रसिद्धि अर्जित करने के ही लिये सम्भवतः माघ ने भारवि के काव्य को अपना आदर्श बनाया, पहले तो सब कुछ वही लिखा जो कुछ भारवि में था तदनु उनसे आगे बढ़ने के लिये अपनी मौलिकता और विशेषता को भी प्रदर्शित किया। पर इस सब कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि माघ में अपनी प्रतिभा की कमी थी और वे बिना भारवि के काव्य का सहारा लिये, काव्य लिख ही न सकते थे।

वस्तुतः सत्य तो यह है कि माघ में भारवि की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट कवित्व प्रतिभा थी। यदि उन्होंने भारवि का सहारा न भी लिया होता तब भी वे इतना उत्कृष्ट काव्य लिख सकते थे, इतना ही क्यों? अपितु इससे भी उत्कृष्ट काव्य रचना कर सकते थे। माघ के अध्ययन से उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य के देखने से तो यही कहना पड़ता है कि यदि माघ ने भारवि का अनुकरण न किया होता तो उनका काव्य इससे भी उत्कृष्ट हुआ होता इस प्रकार तो इस अनुकरण प्रकृति से माघ को हानि ही हुई है लाभ नहीं क्योंकि इस अनुकरण प्रियता के कारण माघ में भी वे दोष आ गये जो कि कवित्व दृष्टि से भारवि में माने जाते हैं। अत्यधिक प्रयत्न साध्य अलंकारों के चक्कर में पड़कर माघ ने अपनी कविता को नैसर्गिक माधुर्य एवं

स्वाभाविक सौन्दर्य से विरहित कर दिया है उसको वह रमणीय रूप प्राप्त न हो सका जो कि कालिदास के काव्यों में हम पाते हैं। इसी प्रकार अत्यधिक पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रकृति ने भी माघ की कविता को बोझिल बना दिया है और उसे जनसाधारण की पहुँच से प्रायः बाहर ही कर दिया है। वस्तुतः यह सब भारवि का ही माघ पर प्रभाव है अन्यथा माघ भारवि से कहीं अधिक उच्च कोटि के कवि हैं। भारवि में कोरी राजनीति पटुता है पर माघ में समस्त शास्त्रों का परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगत होता है उनकी पदशैय्या अलंकार विन्यास दर्शनीय है। वस्तुतः माघ चतुरस्त्र प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं। यदि तत्कालीन काव्यों का उन पर इतना गहरा प्रभाव न पड़ा होता और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अपनी प्रतिभा का उपयोग किया होता तो निःसन्देह उनका काव्य सर्वातिशायी काव्य हो सका होता।

महाकवि माघ के विषय में अनेक सूक्तियाँ प्राप्त होती हैं, कुछ को ऊपर दिखाया जा चुका है और उनका समीक्षात्मक मूल्याङ्कन भी किया जा चुका है, माघ के विषय में राजशेखर की और एक सूक्ति है—

कृत्स्न प्रबोधकृद् वाणी भारवे रिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते॥

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य की कान्ति सब का प्रबोध करने वाली होती है उसी प्रकार भारवि महाकवि की वाणी भी सबका ही प्रबोध करने वाली है किन्तु फिर भी माघ मास के समान माघ काव्य से किस को कम्प उत्पन्न नहीं होता अर्थात् सभी को कम्प होने लगता है। तात्पर्य यह कि माघ काव्य के गम्भीर पाण्डित्य एवं साथ ही उत्कृष्ट कवित्व को देखकर सभी विद्वान चकित रह जाते हैं उनके काव्य के सामने अन्य किसी कवि को पदविन्यास का साहस नहीं रह जाता।

इसी प्रकार की अन्य सूक्तियाँ भी हैं जिनमें कहीं कालिदास से कहीं भट्टि से, कहीं भारवि से तो कहीं अन्य कवियों से माघ को श्रेष्ठ बताने का प्रयास किया गया है। पर इन एकाङ्गी सूत्रात्मक सूक्तियों को समालोचना का नाम नहीं दिया जा सकता, इन्हें हम अधिक से अधिक प्रभाव वादी आत्म प्रधान आलोचना ही कह सकते हैं। दूसरी बात यह कि इन सूक्तियों में तुलनात्मक आलोचना न होकर केवल अलंकार चमत्कार अथवा उक्ति

वैचित्र्य मात्र है, इनसे तुलनात्मक समीक्षा के किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता, ये केवल माघ काव्य के विषय में अन्ध भक्ति प्रदर्शनार्थ अथवा काव्य कौशल प्रदर्शनार्थ ही कहीं गई हैं। न केवल ये सूक्तियाँ ही, प्राचीन समीक्षा पद्धति को भी आधुनिक आलोचना की दृष्टि से समीक्षा ही नहीं कहा जा सकता, एक या दो पंक्तियों में किसी कवि की समीक्षा नहीं हो सकती और न उसके काव्य के गुण दोषों पर विचार ही किया जा सकता है, अतः इन सूक्तियों के आधार पर समीक्षा या तुलनात्मक समीक्षा नहीं हो सकती।

माघ और भारवि के काव्यों के विषय में तुलनात्मक दृष्टि से ऊपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, पाठक उसी से कवि के कवित्व की समीक्षा करें इन सूक्तियों के आधार पर नहीं।

माघ और कालिदास की भी तुलनात्मक दृष्टि से विविध काव्याङ्गों में समीक्षा की गई है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि माघ और कालिदास के काव्यों में क्या विशेषता है, वस्तुतः कालिदास ही कवि हैं माघ केवल पण्डित और भट्टि केवल वैयाकरण तथा भारवि व्यावहारिक राजनीति के कुशलवेत्ता, यदि पद्य बद्ध रचना ही काव्य है तब तो ये सब ही कवि हैं पर यदि कवित्व कोई एक अनिर्वचनीय पदार्थ है तब तो कालिदास ही कवि कहे जा सकते हैं अन्य नहीं, यद्यपि इन अन्य कवियों ने कालिदास का बहुत कुछ अनुकरण किया है पर कालिदास जैसी प्रासादिकता और सरसता एवं मधुरता स्वाभाविकता इन काव्यों में कहाँ आ सकी है। पण्डित होना दार्शनिक होना दूसरी बात है पर कवि होते नहीं, उत्पन्न होते हैं, जन्म जात कवियों में ही कवित्व की सच्ची प्रतिभा होती है, सब में नहीं अतः सब कुछ होते हुये भी माघ और कालिदास के काव्यों में कवित्व की दृष्टि से कोई समता नहीं।

माघ की यदि अन्य कवियों से तुलना ही करनी है तो यह भारवि, भट्टि, श्रीहर्ष आदि से ही की जा सकती है। कालिदास से उनकी कोई समता नहीं अतः पाठकों को इसी से इन कवियों की समीक्षा करना समीचीन होगा।

श्रीमन्माघ कवि प्रणीतम्

शिशुपाल बधम्

प्रथमः सर्गः

अथ कविकुलकमलदिवाकरो माघः "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये" इत्याद्युक्तिप्रामाण्यात् काव्यस्य चानेकश्रेयःसाधनत्वात् शिशुपालबधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, ग्रन्थपरिसमाप्तिप्रतिबन्धकानेकविघ्नदुरिताधिव्याधिप्रशमनार्थं मादौ 'श्री' शब्द प्रयोगपुरस्सरं भगवतः श्रीकृष्णस्य श्रीनारददर्शनरूपवस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गल माचरन्काव्यकथा मारभते—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जग-
ज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन् ददर्शावतरन्त मम्बरा-
द्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ १ ॥

प्रसंग—शिष्टा चारानुरोध से तथा काव्य के यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, अमङ्गलनाश आदि अनेकविध कल्याण साधक होने से, महाकवि माघ "शिशुपालबध नामक महाकाव्य की रचना करने की इच्छा से, अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के उद्देश्य से, सर्व प्रथम मङ्गलसूचक 'श्री' शब्द का प्रयोग करते हुये और इससे भगवान् श्री कृष्ण द्वारा श्री नारद दर्शन रूप वस्तु निर्देशात्मक मङ्गलाचरण करते हुये काव्य कथा का आरम्भ करते हैं। जिसका यह प्रथम श्लोक है—

अन्वय—श्रियः पतिः जगन्निवासः जगत् शासितुम् श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसन् हरिः अम्बरात् अवतरन्तम् हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् मुनिम् ददर्श।

शब्दार्थ—श्रियः=लक्ष्मी के। पतिः=स्वामी अर्थात् लक्ष्मी रूप रुक्मिणी पति। जगन्निवासः=अखिल विश्व के आधार अर्थात् कुक्षिस्थ समस्त भुवनों के आधारभूत विश्वम्भर भगवान्। (तथापि) जगत्=लोक

को। शासितुम्=शासित करने के लिये अर्थात् दुष्टों के निग्रह और शिष्टजनों पर अनुग्रह के द्वारा संसार को अनुशासित करने के लिये। श्रीमति=लक्ष्मी युक्त अर्थात् समस्त धनधान्यादि ऐश्वर्यों से परिपूर्ण। वसुदेवसद्मनि= वसुदेव के गृह में। वसन्=रहते हुये अर्थात् कृष्णरूप से रहते हुये। हरिः= श्रीकृष्ण ने। अम्बरात्=आकाश से। अवतरन्तम्=उतरते हुये अर्थात् इन्द्र का सन्देश कहने के लिये आते हुये। हिरण्यगर्भाङ्गभुवम्–हिरण्यगर्भ= ब्रह्मा के अङ्गभू=पुत्र अर्थात् ब्रह्मपुत्र। मुनिम्=नारद को। ददर्श= देखा।

अनुवाद—लक्ष्मी स्वरूपा रुक्मिणी के पति, समस्त विश्व के आधारभूत (तथापि) विश्व को अनुशासित करने के लिये श्रीसमन्वित वसुदेव के गृह में रहते हुये श्रीकृष्ण ने आकाश से उतरते हुये ब्रह्मपुत्र नारद मुनि को देखा।

भावार्थ—यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण लक्ष्मी पति तथा समस्त विश्व के भरण-पोषण करने वाले हैं तथापि जब वे दुष्टों के निग्रह एवं शिष्टजनों पर अनुग्रह के लिये संसार को अनुशासित करने के उद्देश्य से वैभवशाली वसुदेव के गृह में जन्म लेकर रह रहे थे। उस समय उन्होंने एक बार ब्रह्म-पुत्र नारद जी को इन्द्र का सन्देश कहने के लिये आकाश से उतरते हुए देखा। अर्थात् नारद जी का आकाश मार्ग से आने का उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण से इन्द्र का सन्देश कहना था जैसा कि आगे के श्लोकों में इनके वार्तालाप से स्पष्ट है।

समास विग्रहादि—श्रयति हरिं या सा श्रीः तस्याः श्रियः। निवसन्ति जना अस्मिन्नसौ निवासः जगतां निवासः जगन्निवासः। श्रीर्विद्यते यस्मिन् तत् श्रीमत् तस्मिन् श्रीमति। वसुदेवस्य सद्म तस्मिन् वसुदेवसद्मनि। हिरण्यस्य गर्भः हिरण्यगर्भः, अङ्गाद् भवतीति अङ्गभूः, हिरण्यगर्भस्य अङ्गभूः तम् हिरण्यगर्भाङ्गभुवम्।

संस्कृत टीका—श्रियः लक्ष्म्याः पतिः स्वामी, जगतां निवासः जगन्निवासः विश्वाधारभूतः अखिलभुवनाधिपतिः विश्वम्भर इति यावत्। (तथापि) जगत् संसारं शासितुं नियन्तुं निग्रहानुग्रहाभ्याञ्जगन्नियन्तु मित्यर्थः श्रीमति लक्ष्मीशालिनि सर्वविधधनधान्यादिसमृद्धिसम्पन्ने शोभाशालि-

नीति यावत् । वसुदेवस्य सद्म तस्मिन् वसुदेवसद्मनि वसुदेवगृहे—वसुदेवेति नामकस्य स्वपितु गृहे, वसन् तिष्ठन् मानुपविग्रहेण निवसन्नित्यर्थः । हरिः श्रीकृष्णचन्द्रः अम्बरादाकाशात् अवतरन्तम् समायान्तं इन्द्रसन्देशकथनार्थं मागच्छन्त मित्यर्थः हिरण्यस्य गर्भः हिरण्यगर्भः अङ्गाद् भवतीति अङ्गभूः हिरण्यगर्भस्याङ्गभूस्तम् हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् ब्रह्मपुत्रं मुनिं नारदं ददर्श विलोकयामास ।

संस्कृत सरलार्थ—यदा लक्ष्मीपतिः जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रः सर्वविधशोभाशालिनि स्वपितुः वसुदेवस्य गृहे सुखं निवसन्नासीत् तदा स कदाचिदाकाशा दवतरन्तं ब्रह्मपुत्रं नारद मुनिमपश्यत् (इन्द्रसन्देशकथन मेवासीत्तस्यागमन प्रयोजनम् ।

व्याकरण—श्रीमति—श्री+मतुप्, सप्तमी एकवचन । शासितुम्—शास्+तुमुन् इडागमः । नि+वस्+घञ् (अधिकरणे) निवासः । वसन्—वस्+शतृ प्रथमैकवचन । अवतरन्तम्—अव+तॄ+शतृ द्वितीयैकवचन । ददर्श—दृश् लिट् प्रथम पुरुषैकवचन ।

विशेष—जगन्निवास जगदाधार श्रीकृष्ण का जगत् के एक अंशभूत वसुदेव गृह में रहना किस प्रकार हो सकता है, इस दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक में "विरोध" अलंकार है। और यहाँ जगदाश्रयभूत महामहिमशाली श्रीकृष्णचन्द्र का आधार वसुदेव का गृह बतलाया गया है जो कि ऐसे पुरुष के लिये अत्यल्प है अतः आधाराधेय भाव का आनुरूप्य न होने से यहाँ अधिक अलंकार भी है। जगत् जगत् में वृत्यनुप्रास तथा तकारसकारादि की अनेकावृत्ति होने से अनुप्रास भी अलंकार है । इन अलंकारों के एकत्र समावेश से यहाँ तिलतण्डुलवत् संसृष्टि है ।

इस सर्ग में 'वंशस्थ' नामक छन्द है, जिसका लक्षण है—'जतौ तु वंशस्थ मुदीरितं जरा' अर्थात् जिसके प्रत्येक पाद में जगण तगण जगण और रगण के क्रम से १२ वर्ण होते है वह वंशस्थ नामक छन्द होता है, प्रस्तुत श्लोक में प्रत्येक चरण में इसी क्रम से १२–१२ वर्ण हैं। अतः यह वंशस्थ छन्द है । यथा—

जगण	तगण	जगण	रगण
। ऽ ।	ऽ ऽ ।	। ऽ ।	ऽ । ।
श्रियः प,	तिः श्री म,	ति शा सि,	तुं ज ग त्

इसी प्रकार इसके सभी पादों में १२ वर्ण उक्त गणों के अनुसार होंगे।

पौराणिक प्रसिद्धि के अनुसार परमेश्वर ने सृष्टि रचना की इच्छा से सर्व प्रथम जल की रचना कर उसमें बीज वपन किया जो कि सहस्र सूर्यवत् देदीप्यमान हिरण्यमय अण्ड बन गया, इसी हिरण्यमय अण्ड से उत्पन्न होने के कारण स्रष्टा ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ कहा गया है, इन्हीं हिरण्यगर्भ के उत्सङ्ग से उत्पन्न होने के कारण नारद जी को हिरण्यगर्भाङ्गभू या ब्रह्म पुत्र कहा जाता है। 'उत्सङ्गान्नारदो यज्ञे' (भागवत पुराण)।

प्रसंग—इसके पश्चात् नगर निवासियों ने आकाश मार्ग से उतरते हुये तेज को विस्मयपूर्वक देखा—

गतं तिरश्चीन मनूरुसारथेः,
प्रसिद्ध मूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः,
किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥२॥

अन्वय—अनूरुसारथेः गतं तिरश्चीनम् (प्रसिद्धम्) हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनं प्रसिद्धम् (इदन्तु) सर्वतः विसारि धाम अधः पतति, 'एतत् किम्' इति जनैः आकुलम् ईक्षितम्।

शब्दार्थ—अनूरुसारथे=सूर्य की। गतम्=गति। तिरश्चीनम्=तिरछी या टेढ़ी। हविर्भुजः=अग्नि का। ऊर्ध्वज्वलनम्=ऊपर की ओर जलना अर्थात् अग्नि ज्वालाओं का ऊपर की ओर जाना। प्रसिद्धम्=लोक विदित। सर्वतः=चारों ओर। विसारि=फैलने वाला। धाम=तेज। अधः=नीचे। पतति=गिरता है, आता है। एतत् किम्=यह क्या है? अर्थात् सूर्य और अग्नि के तेज से विलक्षण अधोगामी यह तेज कौन सा है? इति=इस प्रकार। आकुलम्=विस्मय, संभ्रम या वितर्क पूर्वक। जनैः=नगरनिवासियों द्वारा। ईक्षितम्=देखा गया।

अनुवाद—सूर्य की गति तिरछी है अर्थात् सूर्य तो (आकाश में) तिरछे या टेढ़े चला करता है। अग्नि का ऊपर की ओर ज्वलन प्रसिद्ध है अर्थात् अग्नि-ज्वालायें तो ऊपर की ओर ही उठा करती हैं, यह लोक प्रसिद्ध है। (पुरतो दृश्यमान) चारों ओर प्रसरणशील तेज नीचे अर्थात् पृथिवी तल पर आ रहा है। यह क्या है अर्थात् सूर्य और अग्नि के तेज से विलक्षण यह कौन सा तेज है। इस प्रकार नगर निवासियों ने विस्मयपूर्वक (वह तेज) देखा।

भावार्थ—आकाश मार्ग से एक विलक्षण तेज नीचे की ओर उतर रहा था (तेज प्रायः ऊर्ध्वगामी ही होते हैं) अतः इस तेज को देख कर नगर-निवासियों ने सोचा कि सूर्य तो आकाश में तिरछा चलता है और अग्नि का तेज सदा ऊर्ध्वगामी ही होता है पर सर्वत्र विसरणशील यह तेज तो नीचे पृथ्वीतल पर आ रहा है अतः सूर्य और अग्नि के तेज से विलक्षण यह तेज कौन सा है ? ऐसे तेज को देखते हुये वे लोग बड़े विस्मय में पड़ गये।

समास विग्रहादि—अविद्यमानौ ऊरू यस्यासौ अनूरुः, अनूरुः सारथिः यस्य स अनूरुसारथिः तस्य अनूरुसारथेः हविः। भुङ्क्ते इति हविर्भुक् तस्य हविर्भुजः। ऊर्ध्वञ्च तज्ज्वलनञ्च ऊर्ध्वज्वलनम्। विसरति इति विसारि।

संस्कृत टीका—अविद्यमाना वूरु यस्य सोऽनूरुः, स सारथि र्यस्य तस्यानूरु-सारथेः सूर्यस्य गतं गमनम् तिरश्चीनं तिर्यग्भूतम्, हवि र्भुङ्क्ते तस्य हविर्भुजः अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनम् ऊर्ध्वभागस्फुरणम् प्रसिद्धं लोकविख्यातम्। (इदन्तु) सर्वतः समन्तात् विसरतीति विसारि विसरणशीलं धाम तेजः अधः नीचैः आकाशाद् भुवस्तलमिति यावत्, पतति आयाति एतत् किम् किमिदं स्यात् सूर्या-ग्नितेजोविलक्षण मिदं तेजः किमात्मकम् ? इति इत्थम् आकुलम् सवितर्कं ससंभ्रमञ्च यथा स्यात्तथा जनैः नगरनिवासिभिः लोकैः ईक्षितम् अव-लोकितम्।

संस्कृत सरलार्थ—आकाशाद् भुवस्तल मापतत् सर्वतः सञ्चरिष्णु तेजोऽव-लोक्य तत्रत्यैः सविस्मयै र्जनैराशङ्कितम्—किमिदं सूर्यात्मकं तेजः, परं नेदं तत्तेजो भवितु मर्हति यतस्तत्तेजस्तिर्यग्गमनशील मस्ति, एव मग्नेरपि नेदं तेजो यतो हि तदूर्ध्वज्वलनशीलं वर्तते। इदन्तु सर्वतः प्रसरणशीलं तेजोऽधः

पतति अतः किमिदं विलक्षणं धाम ? इत्थं सवितर्कं जनै रवलोकितं तद्धाम इति ।

व्याकरण—गतम्—गम् धातु से भावे क्त प्रत्ययः, तिरश्चीनम्—तिरस् + अञ्च् से 'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति स्वार्थे ख प्रत्यय, ख् को ईन आदेश। प्रसिद्धम्—प्र + षिध् + क्त प्रत्यय, सर्वतः—सर्व शब्द से तसिल् (तस्) प्रत्यय, विसारि—वि + सृ + णिनिः वृद्धि, ईक्षितम्—ईक्ष् धातोः क्त प्रत्ययः इडागमः, अत्र धातोः सकर्मकत्वेऽपि अविवक्षिते कर्मणि भावे क्त प्रत्ययः। जैसा कि कहा गया है—"प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिकाः क्रियाः"। कोई आचार्य यहाँ 'ईक्षितम्' में कर्मणि क्त ही मानकर 'ईक्षितं मुनिम् ददर्श' इस प्रकार पूर्व श्लोक से इसकी योजना करते हैं।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में 'व्यतिरेक' अलंकार है क्योंकि यहाँ "उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" इस लक्षण के अनुसार उपमेय भूत नारद के तेज को अधः प्रसरण धर्म की दृष्टि से, उपमान भूत सूर्य और अग्नि के तेज से बढ़कर बतलाया गया है। 'वंशस्थ' नामक छन्द है।

पौराणिक कथा के अनुसार सूर्य के सारथि अरुण के जंघा न थी अतएव उन्हें अनूरु कहा जाता है, अरुण विनता के पुत्र थे।

प्रसंग—लोगों द्वारा विस्मय पूर्वक उस अधोविसरणशील धाम के देखे जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्त में उन्हें क्रमशः नारद मुनि रूप में पहचाना।

> चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरः,
> ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
> विभु र्विभक्तावयवं पुमानिति,
> क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥ ३॥

अन्वय—विभुः स पुरा त्विषां चयः इति अवधारितम् ततः विभाविताकृतिं शरीरी इति अवधारितम्, विभक्तावयवं पुमान् इति (अवधारितम्) अमुं क्रमात् नारदः इति अबोधि।

शब्दार्थ—विभुः = वस्तु तत्व के अवधारण में कुशल, विवेकशील, व्यापक। सः = हरि श्रीकृष्ण ने। पुरा = पहले तो। त्विषाम् = तेजों का।

चयः=समूह–पुञ्ज या राशि । इति=इस प्रकार । अवधारितम्=निश्चय किया । ततः=तब, इसके बाद । विभाविताकृतिम्=आकृति अर्थात् अवयव संस्थान के विभावित अर्थात् स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाने पर । शरीरी=देहधारी । इत्यवधारितम्=यह निश्चय किया । ततः=तदनन्तर । विभक्तावयवम्=हस्तपादादि अङ्गावयवों के पृथक्-पृथक् दिखाई देने पर । पुमान् =पुरुष । इत्यवधारितम्=ऐसा निश्चय किया । अमुम्—इस अर्थात् आकाश मार्ग से उतरने वाले पुरुष को । क्रमात्=क्रम से । नारद इत्यवोधि=यह नारद है, ऐसा समझा ।

अनुवाद—(आकाश से उतरने वाले उस तेज़ को) विवेकशील एवं व्यापक उन भगवान् श्रीकृष्ण ने पहिले तो तेजों का पुञ्ज समझा अर्थात् यह जाना कि यह कोई तेज पुञ्ज उतर रहा है । तदनन्तर (कुछ और समीप आने पर) मस्तक आदि आकार के स्पष्ट दृष्टिगोचर होने पर देहधारी व्यक्ति है ऐसा निश्चय किया । और तब हस्तपादादि अङ्गावयवों के और स्पष्टतः दृग्गोचर होने पर 'पुरुष है' ऐसा समझा, (तदनु उन्होंने) इस तेज को क्रम से 'यह नारद हैं' यह समझा ।

भावार्थ–आकाश से उतरने वाले तेज को पहले तो श्रीकृष्ण ने तेजों का पुञ्ज समझा, और जब उसके अधिक समीप आने पर मस्तक आदि आकार स्पष्ट दृग्गोचर होने लगे तब उन्होंने उसे शरीरधारी समझा, इसके बाद जब उसके हस्त पादादि अंग स्पष्टतः दिखलाई पड़ने लगे तब उन्होंने इस क्रम से उन्हें नारद समझा अर्थात् अन्त में उन्हें यह निश्चय हो गया कि यह तेज पुञ्ज और कुछ नहीं नारद मुनि ही हैं ।

समास विग्रहादि—विभाविता आकृति र्यस्य तम् विभाविताकृतिम्, विभक्ता अवयवाः यस्य स विभक्तावयवः तम् विभक्तावयम् ।

संस्कृत टीका—विभुः वस्तुतत्त्वावधारणशीलः विवेकी, स हरिः श्री कृष्णः पुरा प्रथमं त्विषां तेजसां चयः समूहः इति एवम् अवधारितम् विनिश्चितम्, अर्थात् तेजोराशितया विनिर्णीतम् । ततः तदनन्तरं किञ्चित्प्रत्यासन्ने सतीति भावः, विभाविता वितर्किता आकृतिः अवयवसंस्थानं यस्य तम् विभाविताकृतिम्, शरीरी देहधारी इत्यवधारितम् । ततः विभक्ता विविच्य गृहीता अवयवा मुखादयः यस्य तम् वभिक्तावयवम् (अत एत) पुमान् पुरुषः इत्यवधारि-

तम्। एवं क्रमात् सामान्यविशेपज्ञानक्रमात् अमुं, आकाशा दवतरन्तं व्यक्ति-विशेपं नारदः इति अवोधि-नारदेत्याख्यातोऽस्त्ययं पुमानिति ज्ञातवान्।

संस्कृत सरलार्थ—आकाशादागच्छत् तत्तेजः प्रथमन्तु वस्तुतत्वज्ञेन श्रीकृष्णेन तेजोराशितयावधारितम् ततः तत्तेजसि प्रत्यासन्ने सति, मस्त-काद्यवयवसंस्थानेपु सुस्पष्टं दृग्गोचरीभूतेषु सत्सु अयमस्ति कश्चिद् देहधारी प्राणवानिति विनिश्चितम् तदनु हस्तपादाद्यवयवेषु दृष्टिपथमागतेषु सत्सु अयमस्ति नारदेत्याख्याविख्यातः पुरुषः इति क्रमशः स हरिः विज्ञातवान्।

व्याकरण—अवधारितम्—अव+धृ+णिच् ततः क्त, इडागमः। शरीरी=शरीर=इनि प्रत्यय। अवोधि वुध अवगमने कत्रर्थे लुङ् 'दीपजन' इत्यादिना चिण्, तस्य लुक्। 'विभुः सः अमुं नारद इत्यवोधि' यहाँ नारद के कर्म होने पर भी द्वितीया विभक्ति न होगी क्योंकि 'इति' इस निपात से यहाँ यह अभिहित हो गया है, अभिहित कर्म में प्रथमा ही होती है द्वितीया तो अनभिहित कर्म में ही होगी।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में विभाविताकृति और विभक्तावयव ये दोनों पद क्रमशः शरीरी और पुमान् रूप अर्थ के बोध कराने में हेतु हैं अतः यहाँ "होतो र्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते" इस लक्षण के अनुसार काव्य-लिङ्ग अलंकार है। वंशस्थ छन्द है।

प्रसंग–यहाँ से आगे के सात श्लोकों में कवि ने आकाश मार्ग से आते हुये नारद जी का विविध विशेपणों द्वारा वर्णन किया है। प्रस्तुत श्लोक में उनकी भगवान् शिव से उपमा दी गई है—

नवानधोऽधो वृहतः पयोधरान्,
समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना,
स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ॥४॥

अन्वय—नवान् वृहतः पयोधरान् अधोऽधः (स्थितम्) समूढकर्पूरपराग-पाण्डुरम् क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमम् (अमुं नारद इत्यवोधि सः)।

शब्दार्थ—नवान्—नये अर्थात् शीघ्र ही जल से भरे हुये अत एव अति नील वर्ण, वृहतः=विपुल, बड़े-बड़े, पयोधरान्=मेघों के, अधोऽधः=नीचे-नीचे, अर्थात् विपुल मेघों के समीप अधोभाग में स्थित। समूढकर्पूरपराग-पाण्डुरम्=पुञ्जीकृत अथवा सुपिष्ट कर्पूर के चूर्ण के समान श्वेत वर्ण। क्षणं=क्षण भर में अर्थात् मेघों के समीप होने के क्षण में, क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्र-कृत्तिना=ताण्डव नृत्त के अवसरों पर गजेन्द्र चर्म को (शिर के) ऊपर धारण कर लेने वाले, भूतिसितेन=भस्म से श्वेत वर्ण, शम्भुना=शिवजी के साथ। स्फुटोपमम्=अति साहश्य अथवा स्पष्ट साहश्य प्राप्त करने वाले (उनको श्री कृष्ण ने नारद समझा)

अनुवाद—नवीन अर्थात् जल सम्भृत होने से अतिनील वर्ण के विपुल मेघों के नीचे-नीचे अर्थात् मेघों के समीप अधोभाग में स्थित (तथा) सुपिष्ट एवं पुञ्जीकृत कर्पूर के चूर्ण के समान श्वेत वर्ण वाले, (अत एव) क्षण भर के लिये ताण्डव नृत्तावसरों पर गजेन्द्र चर्म को ऊपर धारण करने वाले तथा भस्म से श्वेत वर्ण वाले शिव जी से अतिसाहश्य प्राप्त (उनको श्री कृष्ण ने नारद समझा।)

भावार्थ—आकाश मार्ग से आते हुये नारद जी, जल-भरित होने से नीलवर्ण के विशाल मेघों के समीप अधोभाग में स्थित थे और वे स्वयं अच्छी तरह से पीसे गये कर्पूर चूर्ण के समान गौर वर्ण के थे, अतएव वे क्षणभर के लिये, ताण्डवनृत्त काल में गजेन्द्र चर्म को अपने ऊपर धारण करने वाले तथा स्वयं भस्म से लिप्त होने से गौर वर्ण के भगवान् शिव से अति साहश्य धारण कर रहे थे।

नारद जी का भगवान् शिव से अति साहश्य इसलिये था कि नारद जी जिस प्रकार स्वतः कर्पूर चूर्ण के समान गौर वर्ण के थे उसी प्रकार शिव जी भी भस्म लेप से श्वेतवर्ण के थे। तथा नारद जी जिस प्रकार जल-भरित अतएव नीले मेघों के नीचे चल रहे थे उसी प्रकार शिवजी भी ताण्डव नृत्त के समय गजेन्द्र चर्म को जो कि काला होता है ऊपर धारण कर लेते हैं, अतएव दोनों में स्पष्ट सहशता थी।

समासविग्रहादि—कर्पूरस्य परागः कर्पूरपरागः समूढश्चासौ कर्पूरपरागः समूढकर्पूरपरागः समूढकर्पूरपराग इव पाण्डुरं स्वम् समूढकर्पूरपराग-

पाण्डुरम् । क्षणे उत्क्षिप्ता क्षणोत्क्षिप्ता, गजेन्द्रस्य कृत्तिः गजेन्द्रकृतिः, क्षणोत्क्षिप्ता गजेन्द्रकृत्तिः येन स तेन क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना, भूत्या सितः भूतिसित स्तेन भूतिसितेन, स्फुटा उपमा यस्य तम् स्फुटोपमम् । धरन्तीति धराः पयसां धराः पयोधरास्तान् पयोधरान् ।

संस्कृत टीका—नवान् नवीनान् सद्यः सम्भृतजलत्वादतिनीलवर्णान् वृहतः विपुलान् पयोधरान् मेघान् अधोऽधः अधोभागे अर्थात् मेघसमीपाधः प्रदेशे (स्थितम्) समूढः यः कर्पूरस्य परागः तद्वत् पाण्डुरः तम् समूढकर्पूर-परागपाण्डुरम् पुञ्जीकृतकर्पूरचूर्णधवलम् । सुपिष्टकर्पूरचूर्णशुभ्रवपुषं वा (अतएव) क्षणं क्षणमात्रम्, मेघसमीपावस्थानक्षण इत्यर्थः, क्षणे उत्क्षिप्ता गजेन्द्रस्य कृत्तिः येन स तेन क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना, ताण्डवोत्सवाव सरोपरिधारितगजेन्द्रचर्मणा, भूत्या सितस्तेन भूतिसितेन भूतिधवलेन शम्भुना शिवेन स्फुटा उपमा यस्य तं स्फुटोपमं नितरां सदृशम् शिव सदृशमित्यर्थः (अमुं हरिः नारद इत्यवोधि) ।

संस्कृत सरलार्थ—भगवान् श्रीकृष्णः, नील मेघानामधोभागे सञ्चरन्तम् स्वत एव सुपिष्टकर्पूरचूर्णवच्छुभ्रदेहधारिणम् अमुम्, क्षणमात्रं ताण्डवो-त्सवेषु उपरिधारितगजेन्द्रचर्मणा भस्मावलेपशुभ्रवपुषा शिवेन सदृशं नारदं ज्ञातवान् ।

व्याकरण—परोधरानधोऽधः इत्यत्र "उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिपु त्रिपु" इत्यादि वचनान् अधोऽधः इति योगे पयोधरानित्यत्र द्वितीया विभक्तिः । क्षण मित्यत्र अत्यन्त संयोगे द्वितीया । पाण्डुरम् इत्यत्र पाण्डुशब्दात् 'र' प्रत्ययः ।

प्रसंग—आकाश मार्ग से आते हुए नारदजी की हिमालय से तुलना करते हुए कवि कहता है—

> दधान मम्भोरुहकेसरद्युती—
> जंटाःशरच्चन्द्र मरीचिरोचिषम् ।
> विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो—
> धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥५॥

अन्वयः—अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानम्, शरच्चन्द्र मरीचिरोचिषम् (अतएव) विपाकपिङ्गाः तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीः (दधानम्) धराधरेन्द्रम् इव (अमुं नारद इत्यबोधि ।

शब्दार्थ—अम्भोरुहकेसरद्युतीः=कमलों के किञ्जल्कों की कान्ति के समान कान्तिशालिनी । जटाः=जटाओं को । दधानम्=धारण किये हुये । शरच्चन्द्र मरीचिरोचिषम्= शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान (शुभ्र) । कान्ति वाले (अतएव) विपाकपिङ्गाः=पक जाने के कारण पिङ्गल वर्ण वाली । तुहिनस्थलीरुहः=तुषार भूमि पर उगने वाली अर्थात् हिमालय पर उत्पन्न । व्रततीततीः=लताओं के समूह को (दधानम्) धराधरेन्द्रम् इव=हिमालय पर्वत के समान (स्थित) ।

अनुवाद—कमलों के किञ्जल्कों की कान्ति के समान कांन्तिशालिनी जटाओं को धारण करते हुये, (स्वयं) शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान (शुभ्र) कान्ति वाले अतएव पक जाने से पिङ्गल वर्ण वालीं तुषारु भूमि में उत्पन्न लता समूहों को धारण करने वाले हिमालय पर्वत के समान स्थित उनको नारद समझा ।

भावार्थ—नारद जी स्वयं शरत्कालीन चन्द्रकिरणों के समान शुभ्र वर्ण के थे और वे कमल किञ्जल्कों के समान कान्तिशालिनी अर्थात् सुन्दर पिङ्गल वर्ण की जटाओं को कारण किये हुये थे अतएव वे उस हिमालय पर्वत के समान लग रहे थे जो कि स्वयं हिमाच्छादित होने से शुभ्र वर्ण का हैं और जो कि अपने पर उगने वाली पीली-पीली सुन्दर लताओं को अपने ऊपर धारण किये हुये हैं । नारदजी की जटायें लताओं के समान थीं और वह स्वयं हिमालय के समान शुभ्र वर्ण के थे ।

समास विग्रहादि—अम्भसि रोहन्तीति अम्भोरुहाणि अम्भोरुहाणां केसराणि इति अम्भोरुहकेसराणि, अम्भोरुहकेसराणां द्युतिरिव द्युति र्यासां ताः अम्भोरुहकेसरद्युतयः ताः अम्भोरुहकेसरद्युतीः । शरदः चन्द्रः शरच्चन्द्रः शरच्चन्द्रस्य मरीचयः शरच्चन्द्रमरीचयः, शरच्चन्द्रमरीचय इव रोचिः यस्य स शरच्चन्द्रमरीचिरोचिः तम् शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् । विपाकेन पिङ्गाः विपाकपिङ्गाः ताः विपाकपिङ्गाः, तुहिनस्य स्थल्यां रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः ताः तुहिनस्थलीरुहः । व्रततीनां ततयः व्रततीततयः ताः

व्रततीततीः। धरन्तीति धराः धरायाः धराः धराधराः तेषामिन्द्रः धराधरेन्द्रः तम् धराधरेन्द्रम्।

संस्कृत टीका—अम्भोरुहाणां केसराणां द्युतिरिव द्युति र्यासां ताः, ताः अम्भोरुहकेसरद्युतीः कमलकिञ्जल्ककान्तिपिशङ्गीः जटाः दधानं धारयन्तं (स्वयन्तु—) शरच्चन्द्रस्य मरीचय इव रोचि र्यस्य तम् शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् शरत्कालीनचन्द्रकिरणप्रभम् शुभ्रवपुपमित्यर्थः अतएव विपाकेन पिङ्गाः ताः विपाकपिङ्गाः परिणामपिङ्गलाः तुहिनस्थलीषु रोहन्तीति ताः तुहिनस्थलीरुहः तुषारभूमिजाताः व्रततीनां ततयः ताः व्रततीततीः लताव्यूहान् (दधानम्) धराधराः पर्वताः तेषा मिन्द्रस्तम् धराधरेन्द्रम् हिमालयम् इव (स्थितम्) अमुं नारद इत्यवोधि सः।

संस्कृत सरलार्थ—शरीरेण चन्द्रमरीचिवच्छुभ्रवर्णोऽसौ नारदः, पिङ्गलवर्णाः जटाः धारयन् तुषारभूमिसमुद्भवाः परिणामे पिङ्गलवर्णाः लताः धारयन् हिमाच्छादितः अतएव शुभ्रवर्णः हिमालय इव बभौ, एवम्भूतममुं नारद इत्यवोधि भगवान् श्रीकृष्णः।

व्याकरण—दधानम्— धा धातोः शानच् द्वितीयैक वचने रूपम्।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उपमालंकार है जो कि स्पष्ट है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में नारद जी की वलराम जी से तुलना करते हुये कवि कहता है—

> **पिशङ्गमौञ्जीयुज मर्जुनच्छविं,**
> **वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति।**
> **सुवर्णसूत्राकलिताधराम्वरां**
> **विडम्वयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥ ६ ॥**

अन्वय—पिशङ्गमौञ्जीयुजम् अर्जुनच्छविम्, अञ्जनद्युति एणाजिनं वसानम् (अतएव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्वराम् शितिवाससः तनुम् विडम्वयन्तम् (अमुं नारद इत्यबोधि सः)।

शब्दार्थ—पिशङ्गमौञ्जीयुजम्=मूंज (एक घास विशेष) की वनी हुई पीली मेखला से युक्त अर्थात् पीली मौञ्जी (मेखला=करधनी) को कमर में बांधे हुए। अर्जुनच्छविम्=(स्वयम्) गौरवर्ण वाले। अञ्जनद्युति=अञ्जन के

समान कान्ति वाले अर्थात् काले । एणाजिनम्=मृग चर्म को । वसानम्= धारण करते हुए (अतएव) । सुवर्णसुत्राकलिताधराम्वराम्=सुवर्णसूत्र अर्थात् सोने की करधनी से अधराम्वर अर्थात् अन्तरीय वस्त्र (धोती) को बाँधे हुए अर्थात् सोने की करधनी से नीली धोती को बाधे हुए । शितिवाससः= नीलाम्वरधारी वलराम जी के । तनुम्=शरीर को । विडम्वयन्तम्= अनुकरण करते हुये ।

अनुवाद—मूँज की वनी पीली मेखला से युक्त, (स्वयं) गौर वर्ण, काले मृग चर्म को धारण करते हुए (नारद) अतएव स्वर्ण मेखला से अन्तरीय वस्त्र या अधोवस्त्र को बांधे हुए नीलाम्वरधारी वलभद्र के शरीर का अनुकरण करते हुए (इनको नारद समझा) ।

भावार्थ—नारद जी स्वयं गौरवर्ण के थे, वे काला मृग चर्म (धोती) के स्थान पर) पहने हुए थे जिसे उन्होंने मूँज की बनी पीली मेखला से कमर पर बाँध रखा था । इस प्रकार वे अपने नीलवर्ण के अधोवस्त्र को स्वर्ण मेखला से बाँधने वाले नीलाम्वरधारी बलभद्र के शरीर का मानो अनुकरण कर रहे थे ।

समास विग्रहादि—मुञ्जस्य विकारः मौञ्जी, पिशङ्गी चासौ मौञ्जी पिशङ्ग मौञ्जी तया युज्यते इति पिशङ्गमौञ्जीयुक् तम् पिशंगमौञ्जीयुजम् । अर्जुना छवि र्यस्य तम् अर्जुनच्छविम् । एणस्याजिनम् एणाजिनम् तत् एणाजिनम् । अञ्जनस्य द्युति रिव द्युति र्यस्य तत् अञ्जनद्युति, सुवर्णस्य सूत्रेण आकलितम् अधराम्वरं यस्याः सा ताम् सुवर्णसूत्राकलिताधराम्वराम् शिति वासो यस्य स शितिवासाः तस्य शितिवाससः ।

संस्कृत टीका—पिशङ्गी चासौ मौञ्जी तया युज्यते यः तम् पिशङ्गमौञ्जीयुजम् पिङ्गलवर्णमुञ्जमयीमेखलाधारिणम् (स्वयं) अर्जुना छवि र्यस्य तम् अर्जुनच्छविम् धवलकान्तिम्, अञ्जनस्य द्युतिरिव द्युति र्यस्य तत् अञ्जनद्युति अञ्जनवर्णम् अर्थात् कृष्णवर्णं, एणस्याजिनं तत् एणाजिनम् मृगचर्म वसानम् आच्छादयन्तं परिदधानमिति यावत् (अत एव) सुवर्णसूत्रेण आकलितम् अधराम्वरं यस्याः सा ताम् सुवर्णसूत्राकलिताधराम्वराम् सुवर्णमेखलावद्धाधोवस्त्राम्, शिति वासः यस्य स तस्य शितिवाससः नीलाम्वरधारिणः वलभद्रस्य तनुम् शरीरम् विडम्वयन्तम् अनुकुर्वाणम् (अमुं नारद इत्यवोधि सः) ।

संस्कृत सरलार्थ—नारदः शरीरेण गौरवर्ण आसीत् अथ च स पिङ्गल-वर्णया मुञ्जमय्या मेखलया बद्धं कृष्णमृगचर्म धारयन्नासीत् अतएव स स्वर्णमेखलयाबद्धाधोवस्त्रधारिनीलाम्बरधारिणः बलभद्रस्य शरीर मनु कुर्वन् शुशुभे, एवम्भूतं नारदं श्री कृष्णः आकाशा दवतरन्तं ददर्श ।

व्याकरण—पिशंगमौञ्जी इत्यत्र स्त्रियाः पुंवदित्यादिना पिशंगशब्दस्य पुंवद्भावः । वसानम्—आच्छादनार्थक वस् धातोः शानच् द्वितीयैकवचनम् । विडम्बयन्तम्-विडम्ब+णिच्+शतृ द्वितीयैंकवचनम् । मौञ्जीत्यत्र मुञ्जशब्दा दञ् ततः ङीप् ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में आर्थी उपमा है ।

प्रसंग—नारद जी का शरत्कालीन मेघ से सादृश्य बतलाते हुये महाकवि माघ कहते हैं—

विहङ्गराजाङ्गरुहै रिवायतै —
हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः ।
कृतोपवीतं हिमशुभ्र मुच्चकै —
र्घनं घनान्ते तडिताङ्गणैरिव ॥ ७ ॥

अन्वय—विहंगराजाङ्गरुहैः इव आयतैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतम् हिमशुभ्रम् घनान्ते तडिताम् गणैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः घनम् इव (स्थितम्) (अमुं नारद इत्यवोधि सः) ।

शब्दार्थ—विहंगराजाङ्गरुहैः इव—पक्षिराज गरुड़ के पंखों के समान । आयतैः=दीर्घ—लम्बे । हिरण्मयोवीरुहवल्लितन्तुभिः=स्वर्णमय भूमि अर्थात् सुमेरु पर्वतीय भूमि से उत्पन्न लताओं के सूत्रों (रेशों) से । कृतोपवीतम्=रचित यज्ञोपवीत वाले । हिमशुभ्रम्=तुषार (वर्फ) वत् धवल—श्वेत वर्ण । घनान्ते=मेघो के अन्त में अर्थात् मेघ समय बीतने पर शरद् ऋतु में । तडितां गणैः=विजलियों के समूहों से (उपलक्षित) । उच्चकैः घनम् इव=उन्नत मेघ के समान (स्थित) ।

अनुवाद—पक्षिराज गरुड़ के पंखों के समान लम्बे, सुवर्णमय भूमि से उत्पन्न लताओं के सूत्रों (प्रतानों) से रचित यज्ञोपवीतधारी, (स्वयं) तुषारवत् धवल वर्ण वाले (अतएव) शरद ऋतु में विजलियों के समूह से (विराजित) उन्नत मेघ के समान (स्थित) उनको (श्रीकृष्ण ने नारद जाना) ।

भावार्थ—आकाश मार्ग से उतरे हुये नारद जी, गरुड़ के पंखों के समान लम्बे-लम्बे और सुवर्णमय पृथ्वी से उत्पन्न लताओं के रेशों से बने यज्ञोपवीत को धारण किये हुये थे, अर्थात् वे सुनहले रंग का यज्ञोपवीत पहने थे, स्वतः वे बर्फ के समान श्वेत वर्ण के थे, अतएव वे ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो शरद् ऋतु में बिजलियों से सुशोभित ऊँचा मेघ खण्ड हो। शरद् ऋतु में मेघों में जल न होने के कारण वे श्वेत होते हैं जिनमें कभी-कभी पीली बिजलियाँ भी चमकती हैं और ऐसे मेघ प्रायः ऊँचे होते हैं, जल बरसाने वाले ही मेघ नीचे और काले होते हैं। इस प्रकार यहाँ श्वेतवर्ण के नारद जी की, जो कि सुनहला यज्ञोपवीत धारण किये हुये थे, शरत्कालीन विद्युन्माली मेघ से तुलना की गई है।

समास विग्रहादि—विहायसा गच्छन्ति ये ते विहङ्गाः तेषां राजा विहङ्ग-राजः, अङ्गे रोहन्तीति अङ्गरुहाः, विहङ्गराजस्य अङ्गरुहाः इति विहङ्ग राजाङ्गरुहाः तैः विहङ्गराजाङ्गरुहैः। हिरण्यस्य विकारः हिरण्मयी हिरण्मयी चासौ उर्वी इति हिरण्मयोर्वी, रोहन्तीति रुहाः, तस्यां रुहाः इति हिरण्मयो-र्वीरुहाः ताश्च ताः वल्लयश्च इति हिरण्मयोर्वीरुहवल्लयः, हिरण्मयोर्वीरुह-वल्लीनां तन्तवः, तैः हिरण्मयोर्वीरुह वल्लितन्तुभिः। कृतः उपवीतः येन स तम् कृतोपवीतम्। हिममिव शुभ्रः तम् हिमशुभ्रम्, घनाना मन्तस्तस्मिन् घनान्ते।

संस्कृत टीका—विहङ्गराजस्याङ्गे रोहन्ति तैः विहङ्गराजांगरुहैः पक्षि-राजगरुड़तनुरुहैः इव—गरुत्मल्लोमसदृशैः, आयतैः दीर्घैः, हिरण्मयोर्व्यां रुहा या वल्लयस्तासाम् तन्तवः तैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः स्वर्णमयभूमि-समुद्भूतलताप्रतानैः, कृतः उपवीतो येन स तम् कृतोपवीतं कल्पितयज्ञसूत्रम् (स्वयञ्च) हिमशुभ्रम् तुषारवद्धवलविग्रहम् (अतएव) घनान्ते मेघापगमे शर-दृतौ तडितां विद्युतां गणैः समूहैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः समुन्नतं घनं मेघम् इव (स्थितम्) (अमुं नारद इत्यबोधि सः)।

संस्कृत सरलार्थ—आकाद दवतरद्‌ नारदो मुनिः गरुड़लोमभिरिव प्रलम्बैः सुवर्णमयभूमिसमुद्भूतलताप्रतानैः कल्पितयज्ञोपवीतः स्वयञ्च तुषार-वद्धवलितविग्रह आसीत् अतएव स विद्युन्मालाविराजितेन शारदसमुन्नतघनेन समः परिलक्ष्यते स्म।

व्याकरण—हिरण्यस्य विकारः हिरण्मयी, अत्र मयटि यलोपो निपात्यते, अतएव हिरण्मयी इत्येव ननु हिरण्यमयी। रोहन्तीति रुहाः अत्र इगुपध

लक्षण: क प्रत्यय: गुणाभावश्च। उच्चैरेव उच्चकैः—उच्चैः स्वार्थे अकच् प्रत्ययः। आ+यम्+क्तप्रत्ययः—आयतैः।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में इन्द्रवाहन ऐरावत से नारद जी की तुलना करते हुये महाकवि माघ कहते हैं—

निसर्ग चित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा-
लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा—
कुथेन नागेन्द्र मिवेन्द्रवाहनम्॥ ८॥

अन्वय—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसंगिना चारुचमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनं नागेन्द्रम् इव चकासतम् (असुं नारद इत्यबोधि सः)।

शब्दार्थ—निसर्गचित्रोज्ज्वल सूक्ष्मपक्ष्मणा=स्वभाव से ही चित्र विचित्र, उज्ज्वल=(भास्कर) सूक्ष्म और मृदु रोमराजि वाले। लसद्बिसच्छेदसितांग-संगिना=शोभायमान मृणालखण्ड वत् शुभ्र अंग पर संसक्त या आच्छादित, चारुचमूरुचर्मणा=कमनीय चमूरु नामक मृग चर्म से। कुथेन=पृष्ठास्तरण (झूल) से। चकासतम्=शोभायमान। इन्द्रवाहनम्=इन्द्र का वाहन। नागेन्द्रम् इव=ऐरावत गजराज के समान।

अनुवाद—स्वभाव से ही चित्र-विचित्र उज्ज्वल एवं मृदु सूक्ष्म लोम-राजि वाले, तथा सुन्दर मृणाल खण्ड वत् श्वेताङ्ग पर आच्छादित, कमनीय चमूरु नामक मृग चर्म से शोभायमान (अतएव) (नाना वर्ण विशिष्ट) पृष्ठा-स्तरण (झूल) से।सुशोभित) इन्द्र वाहन ऐरावत के समान, (नारद को श्रीकृष्ण ने जाना)।

भावार्थ—आकाश मार्ग से उतरते हुये नारद जी, स्वभाव से ही चित्र-विचित्र वर्ण वाले एवं उज्ज्वल तथा सूक्ष्म रोमों वाले और अपने सुन्दर विसतन्तु के समान श्वेत अंग पर धारण किये गये कमनीय चमरू नामक मृग चर्म से सुशोभित थे, अर्थात् वे एक ऐसा मृग चर्म धारण किये हुये थे जो कि कोमल एवं उज्ज्वल तथा सहज सुन्दर एवं चित्रित था। नारद जी का अंग विसतन्तुवत् श्वेत था इसी पर वह इस प्रकार के मृग चर्म को

धारण किये हुये थे। इसलिये वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानो वह उस ऐरावत के समान हों जिस पर चित्र विचित्र वर्ण की वहुमूल्य झूल डाल दी गई हो। ऐरावत सर्व श्वेत वर्ण का है और नारद जी भी श्वेताङ्ग थे। मृग चर्म भी उसी प्रकार चित्र-विचित्र वर्ण का तथा सूक्ष्म रोगों वाला था जिस प्रकार विचित्र वर्ण की एवं सूक्ष्म रोगों वाली ऐरावत की झूल होती है।

समास विग्रहादि—चित्राणि चोज्ज्वलानि सूक्ष्माणि चेति चित्रोज्ज्वल-सूक्ष्माणि निसर्गेण चित्रोज्ज्वलसूक्ष्माणि पक्ष्माणि यस्य तत् तेन निसर्गचित्रो-ज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा। लसंश्चासौ विसच्छेदः लसद्विसच्छेदः, लसद्विसच्छेद इव सितं लसद्विसच्छेदसितं तच्च तदङ्गञ्चेति लसद्विसच्छेदसिताङ्गम् तत्र सङ्गि तेन लसद्विसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना। चमूरोः चर्म चमूरूचर्म चारु च तत् चमूरुचर्म तेन चारुचमूरुचर्मणा। इन्द्रस्य वाहनम् इन्द्रवाहनम् तत्तथा-भूतम्। गजानामिन्द्रः गजेन्द्रस्तम् गजेन्द्रम्।

संस्कृत टीका—निसर्गेण चित्राणि च उज्ज्वलानि च सूक्ष्माणि च पक्ष्माणि यस्य तत् तेन निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा स्वभावचित्रभास्वरमृदुसूक्ष्मलोम-राजिवता. लसन् यः विसच्छेदः लसद्विसच्छेदः लसद्विसच्छेद इव सिते अङ्गे सङ्गि तेन लसद्विसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना शोभमानमृणालखण्डधवलस्वाङ्गसं-सक्तेन चारु च यद् चमूरोः चर्म तेन चारुचमूरुचर्मणा सुन्दरचमूरुमृगचर्मणा चकासतम् शोभमानम् अत एव कुथेन पृष्ठास्तरणेन (शोभमानम्) इन्द्रवाहनम् नागेन्द्रम् इव इन्द्रवाहनम् ऐरावत गजराजम् मिव (अमुं नारद इत्यबोधि सः)।

संस्कृत सरलार्थ—आकाशादवतरन्नारदो मुनिः सुन्दरचमूरुमृगचर्मणा शोभमानः आसीत्, तच्च मृगचर्म स्वभावादेव उज्ज्वलम् चित्रम् अथ च सूक्ष्म-लोमराजिवदासीत्, इदं मृगचर्म नारदस्य विसच्छेदवच्छुभ्राङ्गे संसक्त मासीत् एवम्भूतेन मृगचर्मणा सः,चित्रविचित्रवहुमूल्यवता पृष्ठास्तरणेन शोभ-मानः इन्द्रगजराज इव वभौ।

व्याकरण—चकासतम्-चकास् धातोः शतृप्रत्ययः, नाभ्यस्ताच्छतुरिति निषेधान्नात्र नुमागमः, द्वितीयैकवचने रूपम्। वाहनमित्यत्र णिजन्ताद् वह्-धातोः कर्तरि ल्युट्, द्वितीयैकवचनम्। छिद्धातोः घञि छेद इति। (छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्।

प्रसंग—नारद जी की स्फटिक की अक्षमाला का वर्णन करते हुये महाकवि माघ कहते हैं—

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुण-
क्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया
विभान्त मच्छस्फटिकाक्षमालया ॥९॥

अन्वय—अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान्तम् (अमुं नारद इत्यवोधि सः) ।

शब्दार्थ—अजस्रम्=निरन्तर, आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया=आस्फालित अर्थात् बजाई गई, (अपनी) वीणा के तारों (गुण) द्वारा संघर्षण (क्षत) से उज्ज्वल जो अंगुष्ठ नख उसकी (रक्तिम) किरणों से सम्पृक्त मिश्रित (अत एव) पुरः=अग्रभाग में, प्रवालैः=विद्रुमों अथवा लाल मूँगों द्वारा, पूरितार्धया इव=गुम्फित अर्धभाग वाली सी (विभाव्यमानया=जान पड़ने वाली) अच्छस्फटिकाक्षमालया=स्वच्छ स्फटिक मणि की जपमाला से, विभान्तम्=शोभमान (उनको भगवान् श्री कृष्ण ने नारद समझा) ।

अनुवाद—निरन्तर बजाई गई (अपनी) वीणा के तारों द्वारा संघर्षण से उज्ज्वल अंगुष्ठ नख की किरणों से मिश्रित (अत एव) अग्रभाग में विद्रुमों द्वारा गुम्फित अर्धभाग वाली सी स्वच्छ स्फटिक मणि की जपमाला से शोभमान (उनको श्री कृष्ण ने नारद समझा) ।

भावार्थ—आकाश मार्ग से उतरते हुये नारद जी अपने एक हाथ में स्फटिक मणि की जपमाला (जो कि सर्वश्वेत वर्ण की होती है) लिये हुये थे और वे अपनी वीणा को बजा रहे थे, अतः निरन्तर बजाई गई अपनी वीणा के तारों की रगड़ से उनका अंगुष्ठ नख और भी लाल वर्ण का हो गया था और उस रक्त वर्ण के नख की लाल किरणें उस श्वेतवर्ण की जपमाला पर पड़ रहीं थीं, अतएव उस माला का आगे वाला आधा भाग लाल रंग का सा प्रतीत होने लगा था, ऐसा मालूम होता था कि यह माला श्वेत स्फटिक

मणि की नहीं अपितु आधी लाल विद्रुमों की बनी हुई हो, इस प्रकार की स्वच्छ जपमाला से शोभमान उनको भगवान् श्रीकृष्ण ने नारद समझा।

समासविग्रहादि—अंगुष्ठस्य नखं तस्य अंशवः अंगुष्ठनखांशवः, वल्लक्याः गुणाः वल्लकीगुणाः आस्फालिताश्च ये वल्लकीगुणास्तैः क्षतम् इति आस्फालितवल्लकीगुणक्षतम् तेन उज्ज्वला ये अङ्गुष्ठनखांशवः तैः भिन्ना तया आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलांगुष्ठनखांशुभिन्नया। पूरितम् अर्धं यस्याः सा तया पूरितार्धया। स्फटिकस्य अक्षमाला स्फटिकाक्षमाला अच्छा चासौ अक्षमाला तया अच्छस्फटिकाक्षमालया।

संस्कृत टीका—अजस्रं निरन्तरम्, आस्फालिता ये वल्लक्या गुणास्तैः क्षतेन उज्ज्वला ये अंगुष्ठस्य नखस्य अंशवः तैः भिन्ना तया आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलांगुष्ठनखांशुभिन्नया परिवादितवीणागुणसंघर्षणोज्ज्वलांगुष्ठकररुहकिरण सम्पृक्तया वादितवीणागुणसंघर्षणोज्ज्वलांगुष्ठनखकिरणरागरक्तयेत्यर्थः। (अतएव) पुरः अग्रभागे प्रवालैः विद्रुमैः पूरितमर्धं यस्यास्तया पूरितार्धया गुम्फितार्धभागया इव (विभाव्यमानया) स्फटिकस्याक्षमाला स्फटिकाक्षमाला अच्छा या स्फटिकाक्षमाला तया अच्छस्फटिकाक्षमालया स्वच्छस्फटिकमणिमालया विभान्तम् सुशोभमानम् (अमुं नारद इत्यबोधि सः)।

संस्कृत सरलार्थ—निरन्तरं वीणावादनेन रक्तांगुष्ठनखकिरणकान्त्या रक्तया अतएवं अग्रभागे विद्रुमगुम्फितार्धभागया इव विभाव्यमानया स्वच्छस्फटिकाक्षमालया शोभमानं तं नारदं श्रीकृष्णो विज्ञातवान्।

व्याकरण—वि+भा+शतृ—विभान्तम्, द्वितीयैकवचन।

विशेष—स्फटिक मणि की अक्षमाला यद्यपि श्वेतवर्ण की थी, पर उसने अपना श्वेत गुण छोड़ कर नखों की रक्त कान्ति से रक्त वर्ण को ग्रहण कर लिया था, अतएव यहाँ 'तद्गुण' अलंकार है। स्फटिक मणि की जपमाला पर रक्तांगुष्ठनख प्रभा के पड़ने से ऐसा प्रतीत होता था मानो उसका आगे का आधा भाग विद्रुमों से गुम्फित कर दिया गया हो, इस दृष्टि से यहाँ उत्प्रेक्षालंकार भी है।

प्रसंग—अपनी महती नामक वीणा को, जो कि वायु के आघात से सप्त स्वरों में बज रही थी, बार-बार देखते हुये नारदजी आकाश मार्ग से उतर रहे थे—

रणद्भि राघट्टनया नभस्वतः,
पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवत् ग्रामविशेषमूर्च्छना—
मवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥१०॥

अन्वय—नभस्वतः आघट्टनया पृथग् रणद्भिः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद् ग्रामविशेपमूर्च्छनां महतीं मुहुः मुहुः अवेक्षमाणम् (अमुं नारद इत्यवोधि सः) ।

शब्दार्थ—नभस्वतः =वायु के। आघट्टनया=आघात से। पृथक्= सुस्पष्ट रूप से। रणद्भिः=ध्वनित या झंकृत होते हुये या अनुरणन से उत्पन्न होते हुये। विभिन्नश्रुतिमण्डलैः=जिसमें श्रुतियो के समूह पृथक्-पृथक् नियत संख्या में व्यवस्थित हैं। स्वरैः=(ऐसे) षड्ज आदि सप्तस्वरों से। स्फुटीभवद् ग्रामविशेपमूर्च्छनाम्=जिनमें ग्राम अर्थात् स्वरों के समूहों की मूर्च्छना अर्थात् स्वरों के क्रमिक एवं नियत चढ़ाव-उतार स्पष्ट हो रहे हैं। महतीम्=(ऐसी) महती नामक अपनी वीणा को। मुहुः मुहुः= वार-वार। अवेक्षमाणम्= देखते हुये (अमुं नारद इत्य वोधि सः)।

अनुवाद—वायु के आघात से स्पष्ट रूप में झंकृत होने वाले, जिनके श्रुतियों के समूह पृथक्-पृथक् नियत संख्या में सुव्यवस्थित है; ऐसे षड्ज आदि सप्त स्वरों से जिसमें ग्रामों अर्थात् स्वरों के समूहों की मूर्च्छना अर्थात् स्वरों के क्रमिक एवं नियत चढ़ाव-उतार स्पष्ट हो रहे हैं (ऐसी) अपनी महती नामक वीणा को वार-वार देखते हुये (इनको श्रीकृष्ण ने नारद जाना)।

भावार्थ—आकाश मार्ग से आते हुए नारद जी अपनी महती नामक वीणा को वार-वार देख रहे थे। यह वीणा वायु के आघात से उन सप्त स्वरों में झंकृत हो रही थी जिनमें विविध श्रुतियों के समूह निश्चित संख्या में व्यवस्थित थे तथा जिसमें स्वरों के ग्रामों अर्थात् स्वर समूहों की मूर्च्छनायें अर्थात् क्रमिक स्वरों के उतार चढ़ाव स्पष्टतया प्रतीत हो रहे थे। इस प्रकार के आते हुये व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण ने नारद जाना।

समास विग्रहादि—श्रुतीनां मण्डलानि श्रुतिमण्डलानि विभिन्नानि श्रुतिमण्डलानि येषां ते तैः विभिन्न श्रुतिमण्डलैः। स्फुटी भवन्त्यः ग्रामविशेपणां मूर्च्छना यस्यास्ताम् स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम् ।

संस्कृत टीका—नभस्वतः वायोः आघट्टनया आघातेन तत्कृतेन ताडनेनेत्यर्थः पृथक् विस्पष्टं यथा स्यात्तथा रणद्भिः ध्वनद्भिः अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः विभिन्नानि श्रुतीनां मण्डलानि येषान्तैः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितविभिन्नश्रुतिसमूहैः, स्वरैः षड्जादिभिः सप्तभिः स्वरैः, स्फुटी भवन्त्यः ग्रामविशेषाणां मूर्च्छनाः यस्याः सा ताम् स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम् व्यक्तीभवत्स्वरसमूहरूपग्रामत्रयारोहावरोहात्मकमूर्च्छनाम् महतीम् महतीत्याख्यातां स्वकीयां वीणां मुहुः-मुहुः वारम्वारेम् अवेक्षमाणम् पश्यन्तम् अमुं नारद इत्य बोधि सः) ।

संस्कृत सरलार्थ—आकाशादवतरन्नारदः स्वकीयाँ महतीत्याख्याविख्यातां वीणां कौतुकान्मुहुर्मुहुरवलोकयन्नासीत् यस्यां वीणायां वायोराघातेन समुद्भूतश्रुत्यात्मकस्वरारम्भकशब्दसमूहविशेषोत्पन्नैः षड्जादिभिः सप्तभिः स्वरैः स्वरसन्दोहारोहावरोहात्मकमूर्च्छनाः स्पष्टं प्रतीयमाना आसन् ।

व्याकरण—अव+ईक्ष्+शानच् अवेक्षमाणम् द्वितीयैक वचन । रणद्भिः—रण् धातोः शतृ तृतीया वहुवचन । आघट्टनया=आ+घट्ट-णिच्+युच्—आघट्टना तृतीयैकवचन आघट्टनया, नभस्+मतुप् नभस्वान् षष्ठी एकवचन नभस्वतः । स्फुटीभवत्=स्फुट+च्वि+भू+शतृ ।

विशेष—यहाँ वायु के आघात मात्र से वीणा में सप्त स्वरों के आविर्भाव के वर्णन में "अतिशयोक्ति" अलंकार है, तथा यहाँ पुरुष के अंगुलि सञ्चालन रूप व्यापार के विना अर्थात् वीणावादन के कारण के विना ही मूर्च्छना की उत्पत्ति रूप कार्य का होना वतलाया गया है अत, यहाँ 'विभावना' अलंकार भी है । वस्तुतः यह विभावनालंकार यहाँ साक्षात् प्रयुक्त न होकर व्यङ्ग्य है अतः इसे यहाँ अलंकार ध्वनि कहना उचित होगा ।

प्रस्तुत श्लोक से महाकवि माघ के संगीत-शास्त्र का सूक्ष्म ज्ञान प्रकट होता है, उन्होंने श्रुति मण्डल, मूर्च्छना आदि संगीतशास्त्र व्यवहृत शब्दों का यथोचित प्रयोग कर इस वात का परिचय दिया है । संगीत शास्त्र के अनुसार सात स्वर, तीन ग्राम तथा इक्कीस मूर्च्छनायें होती हैं ।

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छनाश्चैक विंशतिः ।

संगीत शास्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, जिन्हें क्रमशः स रे ग म प ध नि इन संकेतों से व्यवहृत किया जाता है, ये

सात स्वर होते हैं। श्रुति के अनन्तर जो स्निग्ध और अनुरणनात्मक ध्वनि प्रवाह होता है जिससे कि श्रोताओं का चित्त अनुरञ्जित होता है, उसे स्वर कहते हैं, जैसा कि संगीत रत्नाकर में कहा गया है—

श्रुत्यनन्तर भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वनो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥

ये सप्त स्वर श्रुतियों से उत्पन्न होते हैं। स्वरारम्भकावयव: शब्द विशेषः श्रुतिः अर्थात् स्वरारभक विशेष प्रकार के शब्द को श्रुति कहते हैं, अर्थात् प्रथम श्रवण से जो ह्रस्वमात्रिक शब्द सुनाई पड़ता है, उसे श्रुति कहते हैं, इन्हीं श्रुतियों से स्वर उत्पन्न होते हैं—

प्रथम श्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः ।
सा श्रुतिः संपरिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥

इन प्रति नियत सख्यात्मक श्रुति मण्डलों से विविध स्वर उत्पन्न होते हैं—इसीलिये कवि ने 'प्रथग्विभिन्न श्रुति मण्डलैः स्वरैः' कहा है।

श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः ।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते ॥

स्वरों के समूह को 'ग्राम' कहा गया है। "स्वराणां सन्दोहो 'ग्राम' इत्यभिधीयते" इन ग्रामों की संख्या कुल तीन हैं—षड्ज मध्यम और गान्धार ।

षड्ज ग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च ।
गान्धार ग्राम इत्येतद् ग्रामत्रय मुदाहृतम् ॥

इन ग्रामों में से प्रत्येक की सात-सात मूर्च्छनायें होती हैं इस प्रकार तीन स्वर ग्रामों की २१ मूर्च्छनायें होंगी। मूर्च्छना का अर्थ है स्वरों का आरोह और अवरोह।

क्रमात्स्वराणां सप्ताना मारोहश्चावरोहणम् ।
सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥

जिस प्रकार नारद जी की वीणा का नाम 'महती' है उसी प्रकार विश्वावसु की वीणा का नाम वृहती और तुम्बुरु की वीणा का नाम कलावती तथा सरस्वती की वीणा का नाम कच्छपी है।

प्रसंग—अपने पीछे आते हुए देवताओं को लौटाकर नारद जी द्वारिका पुरी में श्री कृष्ण के निवास स्थान पर पहुँचे—इसी बात को प्रस्तुत श्लोक में बतलाया गया है—

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानती—
नतीन्द्रियज्ञाननिधि नंभः सदः।
समासद त्सादितदैत्यसम्पदः
पदं महेन्द्रालय चारुचक्रिणः॥ १०॥

अन्वय—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः स कृतानतीन् अनुव्रजतः नभः सदः निवर्त्यं सादितदैत्यसम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासदत्।

शब्दार्थ—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः=इन्द्रयातीत पदार्थों का ज्ञान रखने वाले अर्थात् सर्वार्थद्रष्टा। सः=वह नारद। कृतानतीन्=जिन्होंने प्रणाम किया था (ऐसे) अनुव्रजतः=पीछे चलने वाले। नभः सदः=देवताओं को। निवर्त्य=लौटाकर, सादितदैत्यसम्पदः=दैत्यों की सम्पत्ति का विनाश कर देने वाले। चक्रिणः=चक्रायुधधारी श्री कृष्ण के। महेन्द्रालयचारु= इन्द्र भवन के समान मनोहर। पदम्=स्थान को। समासदत्=प्राप्त हुये।

अनुवाद—इन्द्रियागोचर पदार्थों के भी तत्व ज्ञान में कुशल अर्थात् अतीतानागत पदार्थों के ज्ञान में कुशल-सर्वार्थ द्रष्टा वह मुनि नारद, प्रणाम कर चुकने वाले, अपने पीछे आते हुए देवताओं को लौटा कर, दैत्यों की सम्पत्तियों का विनाशकर देने वाले चक्रायुधधारी श्रीकृष्ण के इन्द्र भवन तुल्य सुन्दर स्थान (भवन) को प्राप्त हुये अर्थात् श्रीकृष्ण के निवास स्थान पर पहुँचे।

भावार्थ—जब नारद जी भू लोक पर आ रहे थे तो देवताओं ने उन्हें प्रणामादि किया तथा उनके पीछे पीछे चलने लगे, नारद जी ने उनको लौटा दिया और वे दैत्य सम्पत्ति के विनाशक श्री कृष्ण के उस भवन में पधारे जो कि इन्द्र भवन तुल्य सुन्दर था।

समास विग्रहादि—इन्द्रियमति क्रान्ता अतीन्द्रियाः अतान्द्रियाणां ज्ञांनस्य निधिः इति अतीन्द्रियज्ञाननिधिः। कृताः आनतयः यैस्ते तान् कृतानतान्।

नभसि सीदन्ति इति नभः सदः तान् नभः सदः। सादिता दैत्यानां सम्पदः येन स तस्य सादितदैत्यसम्पदः। महेन्द्रस्य आलयः इव चारु तत् महेन्द्रालय-चारु, चक्र मस्यास्यास्तीति चक्री तस्य चक्रिणः।

संस्कृत टीका—अतीन्द्रियाणां ज्ञानस्य निधिः अतीद्रियज्ञाननिधिः चक्षुरादीन्द्रियातीतपदार्थतत्त्वद्रष्टा स भगवान् नारदः कृता आनतयो यैस्तान् कृतानतीन् कृतप्रणामान् अनुव्रजतः अनुगच्छतः नभसि सीदन्ति तान् नभः सदः देवान् निवर्त्य परावर्त्य सादिता दैत्यानां सम्पदः येन तस्य सादित-दैत्यसम्पदः विनाशितहिरण्याक्षादिदैत्यकुलैश्वर्यस्य चक्रिणः चक्रायुधस्य श्रीकृष्णस्य महेन्द्रालयचारु इन्द्रभवनसुन्दरम् पदं स्थानं (भवनम्) समासदत् समाससाद।

संस्कृत सरलार्थ—कृतोचितसपर्याप्रणामादिसत्कारान् अनुगच्छतो देवान् परावर्त्य सर्वार्थद्रष्टा स मुनि र्नारदो विनाशितदैत्यैश्वर्यस्य श्रीकृष्ण-स्येन्द्रभवन वच्चारु भवन माजगाम।

व्याकरण—इन्द्रिय मति क्रान्ता अतीन्द्रिया इत्यत्र अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया इति समासः। अनुव्रजतः = अनु + व्रज् + शतृ द्वि वहुवचन। निधिरित्यत्र नि + धा + कि। आनतिः = आ + नम् + क्तिन्। नभः सदः = नभस् + सद् + क्विप् तस्य सर्वापहारी लोपः, द्वि० वहुवचन। निवर्त्य = नि + वृत् + णिच् + क्त्वा ल्यप्। समासदत् = सम् + आ + सद् + लुङ्।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के 'नती नती' तथा पदः पदम् में छेदानुप्रास तथा स और द की अनुवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास अलंकार भी है और इन दोनों में संसृष्टि है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा किये गये नारद के स्वागत का वर्णन करते हुये महाकवि माघ कहते हैं—

पतत्पतङ्गप्रतिम स्तपोनिधिः,
पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत।
गिरे स्तडित्वानिव ताव दुच्चकै—
र्जवेन पीठादुदतिष्ठ दच्युतः॥ १८॥

.**अन्वय**—पतत्पतंगप्रतिम: तपोनिधि: अस्य पुर: भुवि यावत् न व्यलीयत, तावत् अच्युत: गिरे: तडित्वान् इव उच्चकै: पीठात् जवेन उदतिष्ठत् ।

शब्दार्थ—पतत्पतंगप्रतिम: =(आकाश से) उतरते हुये सूर्य के समान, तपोनिधि: =उत्कृष्ट तपस्वी नारद। अस्य=श्रीकृष्ण के। पुर:= आगे। भुवि =पृथिवी पर। यावत् = जब तक कि। न व्यलीयत =(पूर्णरूप से न आ गये)। तावत् = तब तक ही। अच्युत: =श्रीकृष्ण। गिरे: तडित्वान् इव पर्वत शिखर से मेघ के समान। उच्चकै: पीठात् =समुन्नत आसन या सिंहासन से। जवेन =वेग से। उदतिष्ठत् = उठ बैठे।

अनुवाद—निकलते हुए सूर्य के समान उत्कृष्ट तपस्वी नारद जी श्रीकृष्ण के समक्ष पृथिवी पर जब तक न उतर पाये थे। तब तक ही श्रीकृष्ण अपने उच्चासन से वेग से उसी प्रकार उठ खड़े हुये जैसे पर्वत शिखर से मेघ उठता है।

भावार्थ—सूर्य सदृश तेजस्वी महान् तपस्वी नारद (आकाश से उतरकर श्रीकृष्ण के भवन में पृथिवी पर जब तक पैर रखें इसके पूर्व ही भगवान् कृष्ण (उनके स्वागत के लिये तुरन्त अपने उच्चासन से उठ खड़े हुये। भगवान् श्रीकृष्ण (श्याम वर्ण वाले) का उच्चासन (पर्वत शिखर के समान) से उठना उसी प्रकार था जैसा कि पर्वत शिखर से मेघ का उठना होता है। कवि द्वारा यहाँ सर्वांग पूर्ण उपमा प्रस्तुत की गई है।

समास विग्रहादि—पतन् य: पतंग: स प्रतिमा (उपमानम्) यस्य स पतत्पतंगप्रतिम:। तपसां निधि: तपोनिधि:। तडित: अस्य सन्तीति तडित्वान्। उच्चै: एव उच्चकै:।

संस्कृत टीका—पतंश्चासौ पतंग: पतत्पतंग: पतत्पतंग: प्रतिमा यस्य स पतत्पतंगप्रतिम: निष्पतन्सूर्यमण्डलोपम: तपसां निधि: तपोनिधि: महान् तपस्वी नारद:, अस्य भगवत: श्रीकृष्णस्य पुर: अग्रे भुवि पृथिव्यां यावत्, यावत्काल पर्यन्तं न व्यलीयत नाजगाम नावतीर्णो भवति तावत् तावदेव अर्थात् नारदचरणयो भूतलस्पर्शात्प्रागेव, अच्युत: श्रीकृष्ण:, गिरे: पर्वतात् पर्वतशिखरादित्यर्थ: तडित्वान् मेघ इव उच्चकै: समुन्नतात् पीठात् आसनात् सिंहासनाद् जवेन वेगेन उदतिष्ठत् समुत्तस्थौ।

संस्कृत सरलार्थ—सूर्यसदृशो महान् तपस्वी नारदो मुनि भगवतः श्रीकृष्णस्य सम्मुखं भुवि यावन्नाजगाम तावदेव अर्थात् नारदस्य चरणयोः भूतलस्पर्शात् प्रागेव भगवान् श्रीकृष्णः वेगेन स्वकीयोच्चासनात्तथैवोदतिष्ठत् यथा हिमालयोच्चशिखराज्जवेन मेघः समुत्तिष्ठति ।

व्याकरण - पत् धातोः शतृ प्रथमैकवचने पतन् । उच्चैः+अकच् प्रत्ययः उच्चकैः । व्यलीयत=वि+ली+लङ् त । उदतिष्ठत्=उत्+स्था+लङ् ति अडागमः । तडित्वान्=तडित्+मतुप् मादुपधायाश्चेत्यादिना मतुपो मकारस्य वकारः अपदत्वान्नात्र जश्त्वम् ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उपमालंकार हैं तथा 'पतत्पतंग प्रतिमः' पद में सूर्य के पतन के असम्भव होने से प्राचीन आचार्यो ने अभूतोपमा तथा आधुनिक आलंकारिकों ने यहां अप्रसिद्ध उपमान के योग के होने से उत्प्रेक्षालंकार माना है ।

प्रसंग—महर्षि नारद के पृथिवी पर पैर रखने का वर्णन करते हुए महाकवि माघ कहते हैं—

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणै—
धृते कथञ्चित् फणिनां गणै रधः ।
न्यधायिषाता मभि देवकीसुतं,
सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥

अन्वय—अथ धातु सुतेन, प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां गणैः अधः कथञ्चित् धृते भुवस्तले अभिदेवकी सुतं चरणौ न्यधायिषाताम् ।

शब्दार्थ—अथ=श्रीकृष्ण द्वारा अभ्युत्थान के पश्चात् । धातुः—ब्रह्मा के, सुतेन=पुत्र द्वारा अर्थात् नारद जी के द्वारा । प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः =प्रयत्न पूर्वक ऊपर उठाये गये तथापि नीचे झुकते हुये फनो वाले । फणिनां गणैः=सर्पों के समूहों द्वारा । अधः=नीचे अधः प्रदेश में । कथञ्चित्=किसी भी प्रकार । धृते उत्तोलित किये गये । भुवस्तले=पृथ्वी तल पर । अभिदेवकीसुतम्=देवकी पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण के सामने । चरणौ न्यधायिषाताम्=चरणों को रखा या स्थापित किया गया ।

अनुवाद—(श्रीकृष्ण द्वारा अभ्युत्थान के अनन्तर) ब्रह्मा के पुत्र नारद के द्वारा, प्रयत्नपूर्वक ऊपर को उठाये गये तथापि नीचे झुकते हुये फनों वाले सर्पों के समूहों से अधः प्रदेश में किसी भी प्रकार उत्तोलित किये गये भूतल पर, देवकी पुत्र श्रीकृष्ण के सामने (अपने) चरणों को रखा गया। अर्थात् नारद जी पृथिवी तल पर उतरे।

भावार्थ—सर्पों को जिनके फनों पर पृथ्वी रखी हुए है, यह डर था कि कहीं नारद जी के चरणों के भार से पृथ्वी नीचे न धँस जाये, अतः उन्होंने यद्यपि बड़े प्रयत्न से उसे ऊँचा उठाया था फिर भी उनके फन नीचे झुक रहे थे पर उन्होंने फिर भी किसी न किसी प्रकार भूतल को अधो भाग में स्थिर कर दिया था ऐसे भूतल पर ब्रह्मपुत्र नारद जी ने श्रीकृष्ण भगवान् के सामने अपने चरणों को रखा अर्थात् वे पृथ्वी पर उतरे।

समास विग्रहादि—प्रयत्नेन उन्नमिताः प्रयत्नोन्नमिताः, प्रयत्नोन्नमिता अपि आनमन्त्यः फणाः येषान्ते तैः प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः। देवक्याः सुतः तम् अभि इति अभिदेवकीसुतम्।

संस्कृत टीका—अथ श्री कृष्णकृताभ्युत्थानानन्तरं, धातुः— ब्रह्मणः सुतेन पुत्रेण नारदेनेत्यर्थः प्रयत्नेनोन्नमिताः प्रयत्नोन्नमिताः अथापि आनमन्त्यः फणाः येषान्ते तैः प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः प्रयासोत्थापिताधोगच्छत्फणामण्डलैः फणिनां सर्पाणां गणैः समूहैः अधः अधः प्रदेशे कथञ्चित् येन केनापि प्रकारेण धृते स्थिरीकृते उत्तोलिते वा भुवस्तले भूतले अभि देवकीसुतम् देवकीपुत्रं कृष्णम् अभिलक्ष्येत्यर्थः चरणौ स्वकीयपादौ न्यधायिपाताम् निहितौ स्थापितौ वा।

संस्कृत सरलार्थ—समधिक प्रयासेनोत्तोलितेऽपि नारदचरणभाराधिक्या दधोगच्छत्फणामण्डलैः सर्पगणैः कथञ्चित् स्थिरीकृते भूतले नारदेन श्रीकृष्ण मभिलक्ष्य तदग्रे स्वकीयौ चरणौ विनिहितौ अर्थात् स श्री कृष्णसमक्षं भूतलेऽतिष्ठत्।

व्याकरण—प्र+यत्+नङ्—प्रयत्नः। आ+नम्+शतृ=आ नमत्। धृ+क्त स० ए० व० धृते, फणा+इनि प० ब व० फणिनाम्। अभिदेवकीसुतम्—देवकी सुतमभिलक्ष्यी कृत्य—अत्र 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये इत्यव्ययी भावः। न्यधायिपाताम्—नि+धा+लुङ् कर्मणि स्यसिचसी

युडित्यादिना चिण्वदिटि युक् प्र० द्वि० वचन। धा+तृच्-धातुः प० एक वचन।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में सर्पों के फनों के उन्नमन और अवनमन में यद्यपि कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि यहाँ असम्बन्ध में भी सम्वन्ध कल्पित किया गया है—अत एव असम्वन्धेऽपि सम्वन्ध लक्षणा अतिशयोक्ति अलंकार है। इस प्रकार की सम्वन्ध कल्पना का कारण यहाँ मुनि का गौरव प्रदर्शन है।

प्रसंग—अभ्युत्थान के अनन्तर भगवान् श्री कृष्ण ने देवर्षि नारद का यथोचित पूजन किया, इसी बात को प्रस्तुत श्लोक में वतलाया गया है—

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयाऽदिपूरुषः,
सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो,
भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ॥१४॥

अन्वय—आदिपूरुषः स अर्घ्यम् तम् अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूपुजत्। मनीषिणः अपुण्यकृतां गृहान् उपैतुं प्रणयात् अभीप्सवः न भवन्ति।

शब्दार्थ—आदिपूरुषः=पुराण पुरुष, सः=उन श्री कृष्ण ने, अर्घ्यम्=पूजनीय, तम्=उन देवर्षि नारद की, अर्घ्यादिकया सपर्यया=पाद्यार्घ्यादि-प्रधान पूजा से, साधु—यथोचित प्रकार से, पर्यपूपुजत्=पूजा की, मनीषिणः=उत्तम कोटि के विद्वज्जन, अपुण्यकृताम्=अपुण्यशील जनों के, गृहान् उपैतुम् घर में आने के लिये, प्रणयात्=उत्कण्ठा वश, अभीप्सवः=अभिलाषी, न भवन्ति=नहीं होते हैं।

अनुवाद—पुराणपुरुष भगवान श्री कृष्ण ने पूजनीय उन देवर्षि नारद की पाद्य अर्घ्यादि प्रधान अर्चना पे यथोचित ढंग से पूजा की। उत्तम विद्वज्जन अपुण्यशील जनों के गृहों में आने के लिये उत्कण्ठावश अभिलाषुक नहीं होते हैं।

भावार्थ—नारद जी के पधारने पर आदिपुरुष भगवान् श्री कृष्ण ने पूजनीय उनकी पाद्य आसन अर्घ्य आदिप्रधान पूजा से अर्चना की। ऐसा करना उचित भी था क्योंकि जो पुण्यात्मा नहीं होते उनके घरों में ऐसे उत्तम महापुरुष कभी भी प्रेमवश आने के लिये उत्सुक नहीं होते अर्थात्

नारद जैसे साधुजन उन्हीं के घर प्रेमवश जाने के लिये उत्सुक रहते हैं जो भगवान् श्री कृष्ण के समान पुण्यात्मा जन होते हैं और मुनिजनों का आदर-सत्कार करते हैं।

समास विग्रहादि—अर्घं महंतीति अर्घ्यस्तम् अर्घ्यम्। अर्घार्थं द्रव्यम् अर्घ्यम्, अर्घ्यं मादि र्यस्याः सा तया अर्घ्यादिकया। आदिश्चासौ पूरुषः आदि-पूरुषः। पुण्यं कृतवन्तः इति पुण्यकृतः न पुण्यकृतः अपुण्यकृतः तेषाम् अपुण्य-कृताम्। मनसः ईषिणः मनीषिणः। अभि प्राप्तुमिच्छवः अभीप्सवः।

संस्कृत टीका–आदिश्चासौ पूरुषश्चेति आदिपूरुषः पुराणपुरुषोत्तमः स भगवान् श्री कृष्णः अर्घं महंतीत्यर्घ्यस्तमर्घ्यम् पूजनीयं तं देवर्षिनारदम्, अर्घार्थं द्रव्यम् अर्घ्यम्, अर्घ्यं मादि र्यस्याः सा तया अर्घ्यादिकया पाद्यार्घ्यादि-प्रधानया सपर्यया अर्चनया साधु यथोचितम् पर्यपूपुजत् परिपूजितवान्। मनी-षिणः विद्वांसः पुण्यं कृतवन्त इति पुण्यकृतः न पुण्यकृतः इति अपुण्यकृतः इति तेषाम् अपुण्यकृताम् अपुण्यशीलानां जनानां गृहान् गृहाणि उपैतुम् आगन्तुम् प्रणयात् प्रेम्णः अभीप्सवः समुत्सुकाः न भवन्ति नैव भवन्ति अर्थात् मुनिजना विद्वांसश्च पुण्यकृतामेव गृहानुपगन्तु मिच्छन्ति अतः दुष्प्राप्याः सन्तः सर्वदैव पूज्याः इति भावः।

संस्कृत सरलार्थ—स्वगृह मुपागतं पूजार्हं महर्षिनारदं प्राप्य भगवता श्रीकृष्णेन तस्य यथाविधि अर्घ्यपाद्यादिभिः सपर्या विहिता। श्रीकृष्णसदृशेन महापुरुषेण नारदस्य पूजाकरणं समुचित मेवासीत् यतो हि नारदमुनिसदृशा महानुभावाः तपस्विनः पुण्यशीलानां जनाना मेव गृहानु पगन्तु मभिलाषुका भवन्ति अतः दुष्प्राप्या एवम्भूता मुनिजनाः सर्वदैव पूजनीया भवन्ति।

व्याकरण—आदिपूरुष इत्यत्र 'अन्येषामपि दृश्यते' इति वा दीर्घः। अर्घ्यं मित्यत्र 'दण्डादिभ्यो यः' इति य प्रत्ययः। अर्घार्थं द्रव्य मर्घ्यमित्यत्र पादार्घाभ्यां चेति यत्प्रत्ययः। अर्घ्यादिकयेत्यत्र शेषाद्विभाषेति विकल्पतः कप् प्रत्ययः। पर्यपूपुजदित्यत्र परि+पूज+णिच् लुङ्-ति-प्र० ए० वचन। मनीषिण इति पृषोदरादित्वात् साधुः। अपुण्यकृतामित्यत्र कृञ् धातोः भूते क्विप्। अभी-प्सव इत्यत्र अभि+आप्+सन्+उप्रत्ययः 'आप्ज्ञप्यृ धामीत्' इतीकारः। उप+आ+इ+तुमुन्—उपैतुम्। प्र+नी+अच्—प्रणयः पं० ए० व प्रणयात्।

विशेष– प्रस्तुत श्लोक में उत्तरार्धगत सामान्य के द्वारा पूर्वार्धगत विशेष का समर्थन किया गया है अतः यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।

प्रसंग—पूजानन्तर भगवान् ने अपने हाथ से आसन देकर नारद जी को बैठाया, इसी बात का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है—

न यावदेता वुदपश्यदुत्थितौ,
　　जनस्तुषाराञ्जनपर्वता विव।
स्वहस्तदत्ते मुनि मासने मुनि-
　　श्चिरन्तनस्तावद भिन्यवीविशत् ॥ १५ ॥

अन्वय—जनः उत्थितौ एतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ इव यावत् न उदपश्यत्, तावत् चिरन्तनः मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिम् अभिन्यवीविशत्।

शब्दार्थ– उत्थितौ=उठे हुये। तौ=उन दोनों को अर्थात् नारद और श्रीकृष्ण को। जनः=द्वारिकावासी जन ने। तुषाराञ्जनपर्वतौ इव= हिमालय और अञ्जन पर्वतों के समान। यावत्=जब तक। न उदपश्यत्=उत्प्रेक्षित न कर सके। तावत्=तब तक, चिरन्तनः मुनिः= सनातन पुराण पुरुष श्रीकृष्ण ने। स्वहस्तदत्ते=अपने हाथ से दिये गये। आसने=आसन पर। मुनिम्=महर्षि नारद को। अभिन्यवीविशत्=अपने सामने बैठा दिया।

अनुवाद—उठे हुये या खड़े हुए इन दोनों अर्थात् नारद और श्रीकृष्ण को द्वारिकावासी जन जब तक हिमालय और अञ्जन पर्वत की भाँति उत्प्रेक्षित न कर सकें तब तक ही सनातन पुराण पुरुष श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से दिये गये आसन पर मुनि नारद को अपने सामने बिठा दिया।

भावार्थ—जब तक कि खड़े हुए इन दोनों—नारद और श्रीकृष्ण को देखकर द्वारिकावासी जन यह तर्क वितर्क न सके या वे लोग जब तक यह उत्प्रेक्षा करें कि ये हिमालय और अञ्जत पर्वत एक साथ कैसे उठ खड़े हुए हैं तब तक ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से आसन देकर मुनि नारद को अपने सामने बिठा दिया। भगवान् श्रीकृष्ण को श्याम वर्ण होने के कारण अञ्जन गिरि और गौर वर्ण नारद जी को यहाँ हिमालय कहा गया है। जब दोनों एक दूसरे के सामने खड़े थे तब वे दोनों हिमालय और अञ्जनगिरि के समान लग रहे थे इस दृश्य को देखकर जब तक द्वारिका-

वासी यह सोच सकें कि दोनों पर्वत एक साथ यहाँ किस प्रकार खड़े हैं इसके पूर्व ही श्रीकृष्ण ने मुनि को आसन पर बिठा दिया।

समास विग्रहादि तुषारश्च अञ्जनश्चेति तुषाराञ्जने तयोः पर्वतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ तौ तुषाराञ्जनपर्वतौ। स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ ताभ्यां दत्तः स्वहस्तदत्तः तस्मिन् स्वहस्तदत्ते। चिरं भवः चिरन्तनः।

संस्कृत टीका—जनः-द्वारिकावासिजनः, तुषाराञ्जनपर्वतौ हिमकज्जलाचलौ, इव उत्थितौ—उद्गतौ, एतौ-नारदश्रीकृष्णौ, यावत्-यावत्कालम्, न उदपश्यत्-न उत्प्रेक्षितवान्, तावत्-तावदेव, चिरन्तनः-पुराणः, मुनिः-भगवान् नारायणः श्रीकृष्णः, स्वहस्तदत्ते-स्वकीयकरविस्तारिते, आसने-सुखविष्टरे सुखासने, मुनिम्-नारदम्, अभिन्यवीविशत्-स्वाभिमुख समुपवेशयामास।

संस्कृत सरलार्थ—भगवतो नारदस्या गमनादनन्तरं यदा भगवान् श्रीकृष्ण स्तस्य स्वागतार्थं स्वासनं विहाय समुत्थितः तदा सम्मुखं समुत्थितौ, एतौ नारदश्रीकृष्णौ निरीक्ष्य यावद् द्वारिकावासिजनाश्चर्चकिताः एतौ द्वावपि स्वस्ववर्णवैशिष्टयाद् हिमालयाञ्जनपर्वता विव नोत्प्रेक्षितवन्तः, तावदेव भगवान् श्रीकृष्णः स्वहस्तसमर्पिते सुखासने मुनिं नारदं स्वाभिमुखं समुपवेशयामास। श्वेतवर्णत्वान्नारदो मुनिः हिमालय गिरितुल्यः घनश्यामतया च भगवान् श्रीकृष्णोऽञ्जनपर्वतोपम आसीत्।

व्याकरण--उदपश्यत् = उत + दृश् + लङ् प्रथम पुरुषैकवचने। उत्थितौ —उत् + स्था + क्त प्रत्ययः। आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनम्—आस् + ल्युट्। चिरन्तनः--चिरमित्यतः 'सायंचिरम्--इत्यादिनाट्यु प्रत्ययस्तुडागमश्च। अभिन्यवीविशत्—अभि + नि + विश्-ण्यन्तात् लुङ् लकारे च्लेश्चङ् प्रथम पुरुषैकवचने।

प्रसंग—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा आसन पर बिठा देने के बाद श्री नारद ने उदयाचल पर स्थित चन्द्रमा की शोभा को धारण किया, इसी बात का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है—

महा महानील शिलारुचः पुरो,
निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रे रभिसाय मुच्चकैं
रचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १९ ॥

अन्वय—महामहानीलशिलारुचः कंसकृषः पुरः उच्चकैः विष्टरे निषेदिवान् सः अभिसायं श्रितोदयाद्रेः चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत्।

शब्दार्थ—महामहानीलशिलारुचः=(सिंहलद्वीपाकरोद्भूत) विशाल इन्द्रनील मणि अर्थात् (पन्ना) की कान्ति की भाँति नीलकान्ति वाले। कंसकृषः=कंसारि कृष्ण के। पुरः=आगे या सामने, उच्चकैः=ऊँचे। विष्टरे=आसन पर। निषेदिवान्=बैठे हुए। सः उन श्री नारद ने। अभिसायम्=सायंकाल में। श्रितोदयाद्रेः=उदयाचल पर आरुढ। चन्द्रमसः=चन्द्रमा की। अभिरामताम्=रमणीयता अर्थात शोभा को। अचूचुरत्=चुरा लिया अर्थात् उसकी शोभा को धारण किया या उसे तिरस्कृत कर दिया।

अनुवाद—विशाल महेन्द्रनील मणि अर्थात् (पन्ना) की कान्ति के समान नीलकान्ति वाले कंसारि श्रीकृष्ण के सामने ऊँचे आसन पर बैठे हुए उन श्री नारद ने सायंकाल में उदयगिरि पर आरुढ़ चन्द्रमा की शोभा को चुरा लिया अर्थात् श्रीकृष्ण के सामने उच्चासन पर बैठे नारद जी ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों सायंकाल उदयाद्रि पर स्थित चन्द्रमा हो।

भावार्थ—जब भगवान् श्रीकृष्ण ने नारद जी को अपने सामने उच्चासन पर बिठा दिया तो वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो सायङ्काल में चन्द्रमा उदयाचल पर स्थित हो। इसका कारण यह था कि भगवान् श्रीकृष्ण घन श्याम वर्ण के थे और वे स्वर्ण सिंहासन पर बैठे थे। नारद जी श्वेत वर्ण के थे और वे उच्च आसन पर विराजमान थे, अतः स्वर्ण सिंहासन तो सायंकालिक अरुण कान्ति के तुल्य था, भगवान श्रीकृष्ण सायङ्कालिक नीलाकाश के तुल्य थे और नारद जी श्वेत वर्ण के होने के कारण चन्द्रमा के तुल्य थे तथा उनका ऊँचा आसन उदयगिरि के तुल्य था अतः नारद जी ऐसे मालुम पड़ते थे कि मानो उन्होंने उदयाचल पर स्थित चन्द्रमा की शोभा को धारण कर लिया था।

समास विग्रहादि—महती चासौ महानीलस्य शिला च महामहानीलशिला तस्याः रुगिव रुग् यस्य स महामहानीलशिलारुक् तस्य महामहानीलशिलारुचः। कंसं कृषतीति कंसकृट् तस्य कंसकृषः। श्रितः उदयाद्रिः येन स तस्य

श्रितोदयाद्रेः । सायम् अभिलक्ष्यीकृत्य इत्यभिसायम् । उच्चैः एव उच्चकैः । अभिरामस्य भावः अभिरामता ताम् अभिरामताम् ।

संस्कृत टीका—महानीलस्य शिला महानीलशिला महती चासौ महानीलशिला इति महामहानीलशिला तस्याः रुगिव रुग् यस्य तस्य महामहानीलशिलारुचः महामहेन्द्रनीलमणिप्रभस्य, कंसं कृषतीति कंसकृट् तस्य कंसकृपः कंसरिपोः श्रीकृष्णस्य, पुरः अग्रे, उच्चकैः महोन्नते विष्टरे आसने स्वर्णपीठ इत्यर्थः निषेदिवान् समुपविष्टः स नारदो मुनिः अभिसायं सायङ्काले, श्रितः उदयाद्रि र्येन तस्य श्रितोदयाद्रेः समाश्रितोदयाचलस्य चन्द्रमसः इन्दोः अभिरामताम् रमणीयतां शोभां वेति अचूचुरत् तिरस्कृतवान् स्वीचकारेत्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थ—महामहेन्द्रनीलमणितुल्यस्य श्यामवर्णस्य श्रीकृष्णस्य पुरतः समुन्नते स्वर्णपीठे निपण्णो नारदो मुनिः सायङ्काले उदयाचलसमारूढस्य हिमांशोः शोभां लब्धवान् । अर्थात् श्यामशरीरस्य भगवतः श्रीकृष्णस्याग्रे समुन्नतस्वर्णपीठे समुपविष्टस्य तुषारकान्ते र्नारदस्य, उदयाचलसमारूढस्य चन्द्रस्य इव महती शोभा आसीत् । अत्र समुन्नतस्वर्णासनं सायङ्कालिकारुणप्रभातुल्य मासीत्, घनश्यामः श्रीकृष्णश्चात्र सायङ्कालिकाकाशतुल्यश्चासीत्, तुषारकान्ति र्नारदो मुनिश्च चन्द्रतुल्यश्चासीदित्य वधेयम् ।

व्याकरण—निपूर्वकात् सद्धातोः 'भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसु प्रत्ययः प्रथमैकवचने निषेदिवान् । विपूर्वकात् स्तॄ धातोः अप् प्रत्यये विष्टरः सप्तम्येकवचने विष्टरे । सायम् अभि इति विग्रहे अव्ययीभाव समासे अभिसायम् । उच्चैरित्यत्राकच् प्रत्यये उच्चकैः । अभिराम शब्दात् तल् प्रत्यये अभिरामता द्वितीयैकवचने अभिरामताम् । चुर् धातोः लुङि च्लेश्चङि कृते अचूचुरत् ।

विशेष—महामहानील शिलायाः रुगिव रुग् यस्येति विग्रहे 'महामहानीलशिलारुचः' इस पद में उपमालंकार है, क्योंकि यहाँ कृष्णवर्ण श्रीकृष्ण के शरीर की तुलना महामहानीलमणि से की गई है । "अचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्" इस पद में असम्भवद् वस्तु सम्बन्ध रूप निदर्शनालंकार है क्योंकि अन्य का अन्य धर्म से सम्बन्ध न होने से यहाँ अभिरामता किन्तु अभिरामताम्

इस प्रकार उपमा में पर्यवसान होने से निदर्शना है। उपमा और निदर्शना में अङ्गाङ्गिभाव होने से संकर अलंकार है।

प्रसंग—नारद मुनि की पूजा से भगवान् श्रीकृष्ण ने अति प्रसन्नता का अनुभव किया, इस बात को प्रस्तुत श्लोक में बतलाया गया है—

विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुषः,
प्रकाम मप्रीयत यज्वनां प्रियः।
गृहीतु मार्यान् परिचर्यया मुहु-
र्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः॥ १७॥

अन्वय—यज्वनां प्रियः (स श्रीकृष्णः) प्रसेदुषः तस्य अपचितिं विधाय प्रकामम् अप्रीयत। हि महानुभावाः आर्यान् परिचर्यया मुहुः ग्रहीतुम् नितान्तम् अर्थिनः (भवन्ति)।

शब्दार्थ—यज्वनाम्=विधि पूर्वक यज्ञानुष्ठानादि करने वाले सज्जनों के। प्रियः=वल्लभ। (वह श्रीकृष्ण) प्रसेदुषः=प्रसन्न हुये। तस्य =उन नारद जी की। अपचितिम्=पूजा को। विधाय=करके। प्रकामम्=अत्यन्त। अप्रीयत=प्रसन्न हुये। हि=क्योंकि। महानुभावाः= महा प्रभावशाली जन। आर्यान्=पूज्यजनों को। परिचर्यया=सेवा के द्वारा ग्रहीतुम्=वश में करने के लिए। नितान्तम्=अत्यधिक। अर्थिनः= अभिलाषी (होते हैं)।

अनुवाद—शास्त्रोक्त विधि पूर्वक यज्ञानुष्ठानादि करने वाले ऋषि मुनियों के प्रिय अर्थात् उनमें भक्ति रखने वाले श्रीकृष्ण, प्रसन्न हुये उन नारद जी की पूजा करके अत्यधिक प्रसन्न हुये, क्योंकि (कृष्ण जैसे) महा प्रभावशाली जन, (नारद जैसे) पूज्यजनों को सेवा के द्वारा बार-बार अपने वश में करने के लिए अत्यधिक अभिलाषी रहते हैं।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण, शास्त्रोक्त विधि विधानों को करने वाले नारद जैसे ऋषि मुनियों में भक्ति रखने वाले थे। अतएव प्रसन्नचित्त उन नारद जी की पूजा करके भगवान् श्रीकृष्ण ने बड़ी प्रसन्नता का अनुभव किया, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण जैसे महानुभाव लोग, नारद जी सदृश पूज्यजनों की सेवा द्वारा उनको पुनः पुनः अपने वश में रखने के लिए सदा ही अत्यधिक इच्छुक रहते हैं, अर्थात् ऐसे जनों की सदा यह अभिलाषा

रहती है कि नारद जैसे ऋषि मुनि सदा ही उनकी सेवा से प्रसन्न रहें और उनको दर्शन देते रहें।

समास विग्रहादि—विधिना इष्टवन्तः इति यज्वानः तेषां यज्वनाम्। महान् अनुभावो येषान्ते महानुभावाः। अर्थनमर्थः स एषामस्तीत्यर्थिनः।

संस्कृत टीका—यज्वनां-विधिनेष्टवताम् यज्ञानुष्ठानादिशीलानाम्, प्रियः-वल्लभः तेषु भक्तिमानित्यर्थः (स श्रीकृष्णः) प्रसेदुषः-प्रसन्नचित्तस्य तस्य नारदस्य अपचितिं पूजां विधाय-कृत्वा प्रकामम् अत्यन्तम् अप्रयीयत प्रसन्नोऽभवत्। हि यतः महानुभावाः—श्रीकृष्णसदृशा महामहिमशालिनो जनाः आर्यान् नारदसदृशान् श्रेष्ठजनान् परिचर्यया सेवया मुहुः भृशं पौनः पुन्येन ग्रहीतुम् अनुकूलयितुम् नितान्तम् नितराम् अर्थिनः अभिलाषावन्तः (भवन्ति)।

संस्कृत सरलार्थ—भगवान् श्रीकृष्णः, शास्त्रोक्तविधिना तपोऽनुष्ठानादि परेषु नारदसदृशमुनिजनेषु सदा भक्तिमान् आसीत्, अतः स प्रसन्नचेतसो नारदस्य पूजां विधाय अति प्रसन्नतामन्व भवत्। यतः श्रीकृष्णसदृशा महाप्रभावशालिनो जनाः, नारदसदृशान् पूजार्हान् जनान् स्वसेवया अनुकूलयितुम् अत्यधिक मभिलाषिणो भवन्ति।

व्याकरण—वि+धा+क्त्वा—ल्यप्—विधाय। अप+चि+क्तिन् अपचितिः द्वितीयैकवचने अपचितिम्। प्र+सद्+क्वसुः—षष्ठ्येक वचने-प्रसेदुषः। प्रीङ् धातोः कर्तरि लङ् प्रथम-पुरुषैक वचने अप्रीयत। 'सुयजोः'—इति यज् धातोः क्वनिप् षष्ठी बहुवचने—यज्वनाम्। प्री+क प्रत्ययः—प्रियः। ग्रह्+तुमुन् प्रत्ययः, "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इतीटो दीर्घः—ग्रहीतुम्। अर्थोऽस्त्येषा मित्यर्थे मत्वर्थे अर्थ शब्दादिनिः प्रथमा-बहुवचने—अर्थिनः।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में पूर्वार्धगत विशेष अर्थ का उत्तरार्धगत सामन्य अर्थ द्वारा समर्थन किया गया है, अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

प्रसंग—अपने कमण्डलु में संगृहीत समस्त तीर्थों के जल को नारद मुनि ने जब भगवान् श्रीकृष्ण के शिर पर छिड़का तो उन्होंने उसे श्रद्धापूर्वक शिर झुका कर ग्रहण किया—इसी बात को प्रस्तुत श्लोक में बतलाया गया है—

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलो—
निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः ।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीः,
नतेन मूर्ध्ना हरि रग्रहीदपः ॥ १८ ॥

अन्वय—अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोः पाणौ निधाय ऋषिणा अभ्युदीरिताः अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीः अपः हरिः नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत् ।

शब्दार्थ—अशेषतीर्थोपहृताः=समस्त तीर्थों से ले आये गये । कमण्डलोः =कमण्डलु अर्थात् जलपात्र से । पाणौ=हाथ पर । निधाय=रखकर । ऋषिणा=नारद के द्वारा । अभ्युदीरिताः=सामने (श्रीकृष्ण पर) छिड़के गये । अघौघविध्वंसविधौ=पाप समूह के विनाश कार्य में । पटीयसीः= अत्यन्त समर्थ । अपः=जलों को । हरिः=श्रीकृष्ण ने । नतेन=झुके हुये । मूर्ध्ना=शिर से । अग्रहीत्=स्वीकार किया ।

अनुवाद—समस्त तीर्थों से लाये गये, (तथा) जलपात्र से (निकाल कर) हाथ पर रखकर ऋषि नारद द्वारा सामने (श्रीकृष्ण पर) छिड़के गये, पाप समूह के विनाश कार्य में अति समर्थ जलों को श्रीकृष्ण ने झुके हुये शिर द्वारा स्वीकार किया ।

भावार्थ—नारद जी अपने कमण्डलु में समस्त तीर्थों के जलों को भरे हुए थे, उन्होंने उन जलों को, जो कि समस्त पापों के विनाश की सामर्थ्य रखते थे, अपने हाथ पर रखकर श्रीकृष्ण के मस्तक पर छिड़का और श्रीकृष्ण ने उन जलों को अपना मस्तक झुका कर श्रद्धा पूर्वक ग्रहण किया ।

समास विग्रहादि—अशेषेभ्यः तीर्थेभ्यः उपहृताः इति अशेष-तीर्थोपहृताः ताः अशेषतीर्थोपहृताः । अघानाम् ओघः अघौघः तस्य विध्वंसस्य विधिः तस्मिन् अघौघविध्वंसविधौ । अतिशयेन पटवः इति पटीयस्यः ताः पटीयसीः ।

संस्कृत टीका—अशेषेभ्यस्तीर्थेभ्य उपहृतास्ताः अशेषतीर्थोपहृताः—सकल-तीर्थसमाहृताः, कमण्डलोः जलपात्रात्, (उद्धृत्य) पाणौ स्वहस्ते निधाय स्थापयित्वा, ऋषिणा नारदेन अभ्युदीरिताः अभिमुखमभिषिक्ताः, अघा-

नामोघस्तस्य विध्वंसस्य विधिस्तस्मिन् अघौघविध्वंसविधौ पापसमूहविनाश-कर्मणि, पटीयसीः नितरां समर्थाः अपः जलानि हरिः श्रीकृष्णः नतेन नम्रेण मूर्ध्ना शिरसा अग्रहीत् स्वीचकार।

संस्कृत सरलार्थ—श्रीकृष्णकृतां पूजां स्वीकृत्य प्रसन्नो मुनि नारदः समस्त तीर्थेभ्यः समानीतानि एवं निखिलपापनिवारणसमर्थानि जलानि स्वकीयकमण्डलोः उद्धृत्य पाणौ च निधाय भगवन्तं श्रीकृष्ण मभिषिक्तवान् श्रीकृष्णश्च तानि जलानि नम्रीभूतेन शिरसा जग्राह। अनेन यत्र श्रीकृष्णस्य नम्रीभावः द्योत्यते तत्र श्रीनारदानीतानां जलानां पवित्रीकरणत्व मपि द्योत्यते।

व्याकरण—कमण्डलोरित्यत्र उद्धृत्येत्याक्षिप्त—क्रियापेक्षयापादानत्वम्, पटीयसीरित्यत्र पटु शब्दादीयसुन् प्रत्ययः 'उगितश्चेति ङीप् प्रत्ययश्च द्वितीया बहुवचने रूपम्। नि+धा+क्त्वा–ल्यप्–निधाय। अभि+उत् उपसर्ग पूर्वक णिजन्त ईर्‌धातोः क्त प्रत्ययः द्वि० बहु० वचन—अभ्युदीरिताः। ग्रह् धातोः लुङि प्रथम पुरुषैक वचने–अग्रहीत्। अप् शब्दात् स्त्रीलिङ्गे द्वितीया बहु-वचने—अपः। नम् धातु से क्त प्रत्यय, तृतीया एक वचन—नतेन।

प्रसंग—मुनि की आज्ञा पाकर भगवान् श्रीकृष्ण जिस स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हुए, वह सुमेरु पर्वत के शृङ्ग के समान प्रतीत हो रहा था, इसी बात को प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है—

स काञ्चने यत्र मुने रनुज्ञया,
नवाम्बुदश्यामतनु र्न्यविक्षत।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं,
सुमेरु शृङ्गस्य तदा तदासनम्॥ १९॥

अन्वय—नवाम्बुदश्यामतनुः सः मुनेः अनुज्ञया काञ्चने यत्र (आसने) न्यविक्षत, तदा तत् आसनम् जम्बूजनितश्रियः सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जिगाय।

शब्दार्थ—नवाम्बुदश्यामतनुः=नवीन अर्थात् जल पूर्ण मेघ के समान श्याम शरीर वाले। सः=वे श्रीकृष्ण। मुनेः=देवर्षि नारद की। अनुज्ञया =आज्ञा से। काञ्चने=स्वर्णमय। यत्र=(आसने) जिस आसन पर। न्यविक्षत=बैठे। तदा=तब। तत् आसनम्=उस आसन ने। जम्बूजनित-

श्रियः=जामुन के फलों द्वारा उत्पन्न शोभा वाले। सुमेरुशृङ्गस्य=सुमेरु पर्वत के शिखर की। श्रियम्=शोभा को। जियाय=जीत लिया।

अनुवाद—नवीन अर्थात् जलपूर्ण मेघों के समान श्याम शरीर वाले श्रीकृष्ण, नारद मुनि की आज्ञा से स्वर्णमय जिस आसन पर बैठे, उस समय उस आसन ने जामुन फलों से उत्पन्न शोभा वाले सुमेरु पर्वत के शिखर की शोभा को जीत लिया था।

भावार्थ—मुनि नारद की आज्ञा से नव घनश्याम शरीरधारी भगवान् श्रीकृष्ण जिस स्वर्ण सिंहासन पर बैठे उस आसन ने मानो उस समय जामुन-फलों से सुशोभित सुमेरु पर्वत की शोभा को जीत लिया था। अर्थात् नवीन मेघों के समान श्याम शरीर वाले भगवान् श्रीकृष्ण जब स्वर्ण सिंहासन पर बैठे तो ऐसा प्रतीत होता था कि सुमेरु पर्वत के शिखर पर जो कि सोने का माना जाता है, जामुन का फल रखा हो, जामुन का फल नीला होता है। ऊँचे स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान घनश्याम श्रीकृष्ण की वैसी ही शोभा हो रही थी जैसी कि सुमेरु के शिखर पर रखे गये जामुन के फल की होती है। यहाँ स्वर्ण सिंहासन को सुमेरुशृङ्ग और श्रीकृष्ण को जामुन का फल माना गया है।

समास विग्रहादि—नवो योऽम्बुदः नवाम्बुदः, नवाम्बुद इव श्यामा तनुर्यस्य सः नवाम्बुदश्यामतनुः। जम्ब्वा जनिता श्रीः यस्य तत् जम्बूजनितश्रि तस्य जम्बूजनितश्रियः। सुमेरोः शृङ्गम् तस्य सुमेरुशृङ्गस्य।

संस्कृत टीका—नवो योऽम्बुदः स इव श्याम तनुर्यस्य स नवाम्बुदश्याम-तनुः जलभरितनीलजलधरश्यामशरीरः, स श्रीकृष्णः मुनेः नारदस्य अनुज्ञया अनुमत्या काञ्चने स्वर्णमये यत्र (सिंहासने) न्यविक्षत उपविष्टवान् तत् आसनम् तत् सिंहासनम्, तदा कृष्णस्योपवेशनकाले, जम्ब्वा जनिता श्रीर्यस्य तत् जम्बूजनितश्रि तस्य जम्बूजनितश्रियः जम्बूफलाहितशोभस्य सुमेरोः शृङ्गं तस्य सुमेरुशृंगस्य सुमेरुपर्वतशिखरस्य श्रियम् शोभाम् जिगाय जितवान् तच्छोभां तिरश्चकारेत्यर्थः।

संस्कृत सरलार्थ—नवजलधरसदृशश्यामलगात्रः भगवान् श्रीकृष्णः महर्षि-नारदस्यानुमत्या स्वर्णमये यत्र सिंहासने निविविशे, तत् कांञ्चन मासनं तस्मिन् काले नीलवर्णजम्बूफलसम्पादित-शोभस्य सुमेरु पर्वतशिखरस्य

शोभां प्राप्तवान् । अर्थात् स्वर्ण-सिंहासनोपविष्टो घनश्यामः श्रीकृष्णः जम्बूफलाहितशोभातिशयस्य सुमेरुपर्वतश्रृङ्गस्य शोभामधश्चकार ।

व्याकरण—अनु+ज्ञाधातोः अङ् प्रत्यये–अनुज्ञा, तृतीयैक वचने—अनुज्ञया । कञ्चन शब्दात् विकारार्थेऽण् प्रत्यये काञ्चनम्-सप्तम्येक वचने—काञ्चने । निपूर्वकात् विश्धातो लुंङि, 'नेर्विशः'' इत्यात्मने पदे, ''शल इगुपधादित्यादिना'' क्सः, प्रथम पुरुषैक वचने—न्यविक्षत । जि धातो लिटि प्रथम पुरुषैक वचने—जिगाय ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में स्वर्ण सिंहासनस्थ श्रीकृष्ण की तुलना सुमेरु पर्वत के शिखर पर स्थित जामुन के फल से की गई है—अर्थात् स्वर्ण सिंहासन, स्वर्णमय पर्वत सुमेरु के शिखर के समान था और उस पर बैठे घनश्याम श्रीकृष्ण, उस शिखर पर स्थित जामुन फल के समान थे, अतः यहाँ उपमालंकार है और इसके पूर्वार्ध में 'न' तथा उत्तरार्ध 'ज' एवं श्रियः श्रियम्, तदा तदासनम् में अनुप्रास अलंकार है, इस प्रकार यहाँ उपमा और अनुप्रास में संसृष्टि है ।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की समुद्र से तुलना करते हुए महाकवि माघ कहते हैं—

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्वरः,
कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः,
शिखाभि राश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥ २० ।

अन्वय—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्वरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः स वाडवजातवेदसः शिखाभिः आश्लिष्टः अम्भसाम् निधिः इव विदिद्युते ।

शब्दार्थ—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्वरः—(तप्त-तपाये गये, कार्तस्वर-स्वर्ण भास्वर-देदीप्यमान, अम्वर-वस्त्र)=तपाये गये स्वर्ण सदृश देदीप्यमान वस्त्र अर्थात् पीताम्वर वाले अर्थात् पीताम्वर को धारण किये हुये, कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः—(कठोर-पूर्ण, ताराधिप-चन्द्रमा)=पूर्णचन्द्र के लाञ्छन (कलङ्क) की कान्ति के समान कान्तिवाले, अर्थात् श्यामल शरीर वाले, स—भगवान श्री कृष्ण, वाडव जातवेदसः—(जातवेदस्-अग्नि)=वाड-

वानल की, शिखाभिः—ज्वालाओं से, आश्लिष्टः=घिरे हुये, अम्भसां निधिः इव—समुद्र के समान, विदिद्युते=सुशोभित हुये।

अनुवाद—तपाये गये स्वर्ण के समान देदीप्यमान पीताम्बर धारण किये हुये तथा पूर्णचन्द्र के कलङ्क की कान्ति के समान कान्तिवाले अर्थात् श्याम शरीरधारी श्री कृष्ण वाडवाग्नि की ज्वालाओं से घिरे हुये समुद्र की भाँति सुशोभित हुये।

भावार्थ—तप्त स्वर्ण के समान दीप्यमान पीताम्बर को धारण किये हुये तथा पूर्णचन्द्र के कलङ्क के समान श्याम शरीरधारी श्री कृष्ण उस समुद्र की भाँति शोभा पा रहे थे जो कि वाडवाग्नि की शिखाओं से घिरा हुआ हो। अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण का पीताम्बर तप्तस्वर्ण की भाँति चमकीला था और वे स्वयं पूर्णचन्द्र के कलङ्क की भाँति श्याम वर्ण के थे अतः वे वाडवाग्नि की ज्वालाओं से घिरे हुये समुद्र की भाँति शोभित थे।

समास विग्रहादि—तप्तं च यत् कार्तस्वरम् तप्तकार्तस्वरम् तद्वत् भास्वरम् अम्बरं यस्यासौ तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः। कठोरश्चासौ ताराधिपः कठोरताराधिपः तस्य लाञ्छनस्य छवि रिव छवि र्यस्यासौ कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः। वडवायां भवः वाडवः स चासौ जातवेदाश्चेति वाडवजातवेदाः तस्य वाडवजातवेदसः।

संस्कृत टीका—तप्तं च यत् कार्तस्वरं तद्वत् भास्वर मम्बरं यस्य स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः सुतप्तसुवर्णोज्ज्वल-वस्त्रः, कठोरश्चासौ ताराधिपः तस्य लाञ्छनस्य छविरिव छविर्यस्य स कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः पूर्णेन्दुमण्डलवर्तिलाच्छनरुचिरकान्तिः स श्री कृष्णः वाडवश्चासौ जातवेदाः तस्य वाडवजातवेदसः वाडवाग्नेः शिखाभिः ज्वालाभिः आश्लिष्टः परिव्याप्तः अम्भसां निधिः समुद्र इव विदिद्युते शुशुभे।

संस्कृत सरलार्थ—श्रीकृष्णधृतपीताम्बरं सुतप्तसुवर्णं वद् देदीप्यमानमासीत्, तद् वपुश्च पूर्णेन्दुमण्डलवर्तिलाञ्छनवत् श्याममासीत्, एवम्भूतः श्री कृष्णस्तदा वाडवाग्निज्वालावलिपरिव्याप्तसमुद्र इव बभौ।

व्याकरण—आ=श्लिप्+क्त—आश्लिष्टः, भास्=वरच्—भास्वरः, नि+धा+कि प्रत्ययः—निधिः, वि+द्युत धातोः लिट् प्रथम पुरुषैक वचने विदिद्युते।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में पीताम्बरधारी श्यामवर्ण श्री कृष्ण को वाडवाग्नि ज्वालाओं से परिव्याप्त समुद्र के समान बतलाया गया है अतः यहाँ उपमालंकार है।

प्रसंग—देवर्षि नारद की चन्द्रकिरणों से तुलना करते हुये महा कवि माघ कहते हैं—

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषा—
सृषित्विषः सम्वलिता विरेजिरे।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरो—
स्तुषारमूर्तें रिव नक्त मंशवः ॥२१॥

अन्वयः—रथाङ्गपाणेः रोचिषां पटलेन सम्वलिताः ऋषित्विषः नक्तम् तरोः चलत्पलाशान्तरगोचराः तुषारमूर्तेः अंशवः इव विरेजिरे।

शब्दार्थ—रथाङ्गपाणेः-चक्रपाणि भगवान् श्री कृष्ण की, रोचिषाम्=प्रभाओं के, पटलेन=समूह से, सम्वलिताः-मिश्रित, ऋषित्विषः—महर्षि-नारद की कान्तियाँ, नक्तम्=रात्रि में, तरोः=वृक्ष के, चलत्पलाशान्तर गोचराः=हिलते हुये पत्तों के बीच से दिखाई देने वाली तुषारमूर्तेः=चन्द्रमा की अंशवः=किरणें, इव=के समान विरेजिरे=सुशोभित हुई।

अनुवाद—चक्रपाणि भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र की कान्तियों के समूह से मिश्रित महर्षि नारद की कान्तियाँ, रात्रि में वृक्ष के हिलते हुये पत्तों के बीच से दृग्गोचर होने वालीं चन्द्रमा की कान्तियों के समान सुशोभित हुईं।

भावार्थ भगवान् श्री कृष्ण की देहकान्ति श्यामवर्ण की थी और देवर्षि नारद की देहकान्ति श्वेत वर्ण की थी अतः श्री कृष्ण की देहकान्ति से मिल कर नारद की देहकान्ति उसी प्रकार सुशोभित हो रही थी जिस प्रकार रात्रि में वृक्ष के हिलते हुये पत्तों के बीच से दिखलाई पड़ने वालीं चन्द्रमा की श्वेत किरणें शोभा पाती हैं। श्री कृष्ण की नीलकान्ति वृक्ष के हरित वर्ण के पत्तों के समान थी और उन पत्तों पर छनकर आने वालीं चन्द्र किरणों के समान महर्षि नारद की श्वेत कान्ति थी।

समास विग्रहादि—रथस्य अङ्गं रथाङ्गम्, रथाङ्गं पाणौ यस्य स रथाङ्गपाणिः तस्य रथाङ्गपाणेः। ऋषेः त्विषः ऋषित्विषः। चलन्ति च तानि पला-

शानि चलत्पलाशानि तेषा मन्तराणि चलत्पलाशान्तराणि, चलत्पलाशान्तराणि एव गोचरः येषान्ते चलत्पलाशान्तरगोचराः । तुषारा मूर्ति र्यस्य स तुषारमूर्तिः तस्य तुषारमूर्तेः ।

संस्कृत टीका—रथाङ्गं पाणौ यस्य तस्य रथाङ्गपाणेः सुदर्शनचक्रपाणेः भगवतः श्री कृष्णस्य, रोचिषाम्—प्रभाणाम्, पटलेन-समूहेन, सम्वलिताः-मिश्रिताः ऋषेः त्विषः ऋषित्विषः महर्षिनारदकान्तयः, नक्तम्-रात्रौ, तरोः वृक्षस्य, चलतां पलाशाना मन्तराण्येव गोचरः येषान्ते चलत्प लाशान्तरगोचराः स्फुरत्पत्रमध्यावकाशदृश्यमानाः तुषारा मूर्ति र्यस्य तस्य तुषारमूर्तेः चन्द्रस्य अंशवः किरणा इव विरेजिरे शुशुभिरे ।

संस्कृत सरलार्थ—भगवतः श्री कृष्णस्य श्यामलदेहकान्तिसमूहेन मिलिताः महर्षिनारदश्वेतदेहकान्तयस्तथैव चकाशिरे यथा रात्रौ पादपस्य चञ्चलपत्रविवरपरिदृश्यमानाश्चन्द्रकिरणाः शोभन्ते । अर्थात् नीलवपुषः श्री कृष्णस्य श्वेतकान्ते र्नारदस्य च देहप्रभाः परस्परं मिलिताः सत्यश्चञ्चल वृक्षपत्रविवरदृश्यमानेन्दुगभस्तय इव विशोभमाना आसन् ।

व्याकरण—सम्+वल्+क्त इडागमः प्रथमा वहुवचन-सम्वलिताः, वि=राज् धातोः लिट्-झ-इरेच्—विरेजिरे । नक्तमिति सप्तम्यार्थे अव्ययम् ।

प्रसंग—एक दूसरे के सामने बैठे हुये भगवान् श्री कृष्ण और देवर्षि नारद एक वर्ण के समान सुशोभित हो रहे थे, इसी बात का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है—

प्रफुल्लतापिच्छनिभै रभीषुभिः,
शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः ।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी
तदैकवर्णाविव तौ वभूवतुः ॥२२॥

अन्वय—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः शुभैः अभीषुभिः परस्परेण छुरितामलच्छवी तौ तदा एकवर्णौ इव वभूवतुः ।

शब्दार्थ—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः=(प्रफुल्ल-विकसित, तापिच्छ-तमाल पुष्प जो कि नील वर्ण का होता है, निभ-सदृश)=फूले हुये तमाल पुष्प के सदृश, अर्थात् श्यामवर्ण वाले, सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः—(सप्तच्छद-सप्तपर्ण

अथवा विषमच्छद नामक पुष्पवृक्ष जिसके पर्वों में सप्त पर्ण होते हैं, इसका पुष्प भी सप्तच्छद ही कहा जाता है, इसका रंग श्वेत होता है। इसे देश भाषा में छितौन भी कहते है। पांसु-धूलि या पराग, पाण्डु-गौरवर्ण) = सप्तच्छद पुष्पों के पराग के समान गौर वर्ण वाले, शुभैः=सुन्दर, मनोज्ञ अथवा सहृदय जनों के हृदय को आकृष्ट करने वाले, अभीपुभिः=किरणों या कान्तियों द्वारा, परस्परेण = एक दूसरे से, छुरितामलच्छवी =परस्पर में मिश्रित निर्मल कान्ति वाले, (होकर) तौ-वे दोनों अर्थात् नारदमुनि और भगवान् श्री कृष्ण, तदा—उस समय अर्थात् जबकि वे दोनों आमने-सामने बैठे हुये थे। एकवर्णौ इव=समान वर्ण वाले अर्थात् एक समान रंग के, बभूवतुः = हो गये थे।

अनुवाद—विकसित तमाल पुष्प के समान अर्थात् नीलवर्ण वाले (तथा) सप्तपर्ण पुष्पों के पराग के समान गौरवर्ण वाले, आकर्षक किरणों द्वारा अर्थात् नील एवं श्वेत देहकान्तियों द्वारा, परस्पर में मिश्रित निर्मल कान्तियों वाले होकर, वे दोनों भगवान् श्रीकृष्ण और देवर्षि नारद उस समय एक समान रंग के हो गये थे।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण की देहकान्ति, खिले हुए नालवर्ण के तमाल पुष्प के समान थी, और देवर्षि नारद जी की देहकान्ति, सप्तच्छद के श्वेत पुष्पों के पराग के समान गौर वर्ण की थी, अतः दोनों के आमने-सामने बैठने के समय इन दोनों की नील और श्वेत कान्तियां जब परस्पर में मिल जाती थीं तब वे दोनों एक रंग की हो जाती थीं। इस प्रकार दोनों की नील और श्वेत निर्मल कान्तियों के मिलकर एक समान वर्ण वालीं हो जाने से उस समय दोनों ही एक रंग के प्रतीत होते थे। वस्तुतः दोनों की नील और श्वेत कान्तियों के मिलकर एक समान वर्ण की हो जाने से, दोनों की वैसी ही एक प्रकार की विचित्र शोभा हो रही थी जैसी कि श्वेत स्फटिक मणि और नीलमणि की मिलकर शोभा होती है अथवा गंगा और यमुना के श्वेत एवं नील जल की मिलकर शोभा होती है।

समास विग्रहादि—प्रफुल्लतीति प्रफुल्लम्, तापिच्छस्य पुष्पं तापिच्छम्, प्रफुल्लञ्च यत् तापिच्छम् इति प्रफुल्लतापिच्छम् तेन सदृशाः इति प्रफुल्लतापिच्छनिभाः तैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः अथवा तस्य निभास्तैः। सप्त छदाः येषान्ते सप्तच्छदाः तेषां पुष्पाणि सप्तच्छदानि, सप्तच्छदानां पांसवः सप्त-

च्छदपांसव: तद्वत् पाण्डव: तैः सप्तच्छदपांसुपांण्डुभिः। छुरिते अमले छवी ययोस्तौ छुरितामलच्छवी।

संस्कृत टीका—प्रफुल्लं यत् तापिच्छं तेन तुल्या: इति प्रफुल्लतापिच्छ-निभास्तैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः विकसिततमालपुष्पसदृशैः सप्तच्छदानां पांसव: तद्वत् पाण्डवस्तैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः सप्तपर्णकुसुमपरागवच्छुभ्रैः शुभैः मनोहरैः अभीषुभिः-रश्मिभिः देहकान्तिभिरित्यर्थः। परस्परेण—अन्योन्यम्, छुरिते अमले छवी ययोस्तौ छुरितामलच्छवी-मिलित-स्वच्छकान्ती तौ हरिनारदौ तदा तस्मिन् काले एकवर्णौ तुल्यवर्णौ समानकान्ती इव यथा बभूवतुः अभूताम्।

संस्कृत सरलार्थ—तमालपुष्पवन्नीलदेहकान्तिमतो भगवतो वासुदेवस्य नीलदेहप्रभया सह सप्तच्छदपुष्पपरागवच्छ्वेतदेहकान्तिमतो देवर्षेः नारदस्य श्वेतकान्तेः सम्मिश्रणात् तौ हरिनारदौ तस्मिन् काले एकवर्णौ इव अभूताम्। वस्तुत: उभयो र्नीलश्वेतकान्तिमेलना दुभयोरपि गंगायमुना-संगम इव कश्चि देकोऽपूर्ववर्ण एव प्रादुरभूत्।

व्याकरण—प्रफुल्लतीति प्रफुल्लमिति विग्रहे प्रपूर्वकात् फुल्ल विकसने-इत्यस्माद्धातोः पचाद्यच् प्रत्यय:। तापिच्छस्य विकार: (पुष्पम्) इत्यर्थे तद्धित प्रत्ययस्य लुकि तापिच्छमेव रूपम्, एवमेव सप्तच्छदमित्यत्रापि बोध्यम्। तापिच्छेन सदृशा इति तापिच्छनिभास्तै रिति विग्रहे नित्य समास त्वादस्वपद विग्रह:। बभूवतुरिति भूधातोः लिटि प्रथम पुरुष द्विवचने रूपम्।

विशेष—भगवान् श्रीकृष्ण की नीलकान्ति और देवर्षि नारद की श्वेत देहकान्ति परस्पर मिलकर मानो गंगा यमुना के संगम के सदृश एक वर्ण की प्रतीत हो रहीं थीं, इस कथन में यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है।

प्रसंग—देवर्षि नारद के आने पर भगवान् श्रीकृष्ण को इतनी अधिक प्रसन्नता हुई कि वह उनके शरीर में भी न समा सकी, इसी बात का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो,
जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
तनौ ममु स्तत्र न कैटभद्विष—
स्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः॥ २३॥

अन्वय—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभद्विषः यस्यां तनौ जगन्ति सविकासम् आसत तत्र तपोधनाभ्यागमसम्भवाः मुदः न ममुः ।

शब्दार्थ—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः=प्रलय काल में सभी प्राणियों को (अपने में) अन्तर्भूत कर लेने वाले अर्थात् प्रलय काल में समस्त जीवों को अपने ही भीतर समेट लेने वाले । कैटभद्विषः=कैटभ नामक दैत्य के शत्रु भगवान् श्रीकृष्ण के । यस्यां तनौ=जिस शरीर में । जगन्ति=भुवन अर्थात् समस्त लोक । सविकासम्=विस्तार पूर्वक, अवकाश सहित । आसत= समा गये थे । तत्र=भगवान् श्रीकृष्ण के उस शरीर में । तपोधनाभ्यागम-सम्भवाः=तपोधन-परम तपस्वी देवर्षि नारद के आगमन से उत्पन्न । मुदः= हर्ष-प्रमोद । न ममुः=न समाये अर्थात् न समा सके ।

अनुवाद—प्रलयकाल में समस्त जीवों को अन्तर्भूत कर लेने वाले, कैटभ के शत्रु (श्रीकृष्ण के) जिस शरीर में समस्त लोक विकास पूर्वक समा गये थे, श्रीकृष्ण के उस शरीर में तपस्विश्रेष्ठ नारद के आगमन से उत्पन्न आनन्द न समा सके ।

भावार्थ—महान् तपस्वी देवर्षि नारद से आगमन से भगवान् श्रीकृष्ण को इतना हर्ष हुआ कि वह, उनके उस शरीर में, जिसमें कि प्रलय काल के समय समस्त जीव समा जाते हैं, न समा सका । तात्पर्य यह कि प्रलय काल में समस्त लोक जिनके शरीर में सुविधापूर्वक समा जाते हैं उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में एक देवर्षि नारद के आने से प्राप्त आनन्द न समा सके । नारद जी के देखने पर भगवान् हर्ष से रोमाञ्चित हो गये थे ।

समास विग्रहादि—युगस्यान्तो युगान्तः तस्य कालः युगान्तकालः तस्मिन् प्रति संहृता आत्मानो येन स तस्य-युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभं द्वेष्टि इति कैटभद्विट् तस्य कैटभद्विषः । तप एव धनं यस्यासौ तपोधनः तस्य अभ्यागमः तपोधनाभ्यागमः—सम्भवतीति सम्भवः, तपोधनाभ्यागमात् सम्भवो यासां ताः तपोधनाभ्यागमसम्भवाः ।

संस्कृत टीका—युगान्तस्य काले प्रतिसंहृता आत्मानो येनासौ तस्य युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः, प्रलयकालोपसंहृतप्राणिसमूहस्य, कैटभद्विषः कैटभारेः श्रीकृष्णस्य यस्यां तनौ यस्मिन् वपुषि, जगन्ति भुवनानि, सविकासम्-

सावकाशम् यथा सुखमित्यर्थः आसत अतिष्ठन्, तत्र-तस्य तस्मिन् शरीरे, तपोधनस्या गमात् सम्भवो यासां ताः तपोफधनाभ्यागमसम्भवाः तपस्विश्रेष्ठ-नारदमुनिसमागमोद्भवाः मुदः—हर्षाः न ममुः न मान्ति स्म ।

संस्कृत सरलार्थ—यस्य श्रीकृष्णस्य शरीरे प्रलयकाले समस्तलोकाः सावकाशं समतिष्ठन् तस्मिन्नेव तस्य शरीरे एकस्य मुनेः नारदस्यागमन-सम्भूताः प्रीतयः प्रमोदा वा मातुं न प्रवभूवुः। नारद मागतं समीक्ष्य श्रीकृष्णः रोमाञ्चितो बभूवेत्यभिप्रायः ।

व्याकरण—जगत् शब्दस्य प्रथमा वहुवचने—जगन्ति । आस उपवेशने इत्यस्माद्धातो लँङि प्रथम पुरुष बहुवचने—आसत । सम्भवतीति सम्भवः पचाद्यच् । मा धातो र्लिटि प्रथम पुरुष वहुवचने—ममुः । द्विष् धातोः क्विपि द्विट् षष्ठ्येकवचने द्विषः ।

विशेष—जवकि प्रलयकाल में समस्त लोक श्रीकृष्ण के शरीर में समा जाते हैं तो उन्हीं के शरीर में श्री नारद के आगमन से उत्पन्न हर्ष न समा सके, अतः यहाँ सम्वन्धा सम्वन्ध रूपा अतिशयोक्ति अलंकार है ।

प्रसंग—भगवान् श्रीकृष्ण के 'पुण्डरीकाक्ष' नामकी सार्थकता सिद्ध करते हुए महाकवि माघ कहते हैं—

निदाघधामान मिवाधिदीधितिं,
मुदा विकासं मुनि मभ्युपेयुषी ।
विलोचने विभ्रदधिश्रितश्रिणी,
स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ।। २४ ।।

अन्वय—निदाघधामानम् इव अधिदीधितिम् मुनिम् अभि मुदा विकासम् उपेयुषी अधिश्रितश्रिणी लोचने विभ्रत् स पुन्डरीकाक्षः इति स्फुटः अभवत् ।

शब्दार्थ—निदाघधामानम्=उष्ण किरणों वाले अर्थात् सूर्य । इव=की भाँति । अधि दीधितिम्=अधिक तेज वाले । मुनिम्=मुनि नारद को । अभि=अभिलक्ष्य करके । मुदा=हर्ष से । विकासम् उपेयुषी=प्रफुल्लता या प्रसार को प्राप्त हुये । अधिश्रितश्रिणी=प्राप्त शोभा वाले, विलोचने, नेत्रों को । विभ्रत्=धारण करते हुये । स=वह श्रीकृष्ण, पुण्डरीकाक्ष अर्थात् 'कमल नयन' (इस नाम से) । स्फुटः=स्पष्ट या सार्थक । अभवत्=

हो गये। अर्थात् उनका पुण्डरीकाक्ष या कमल नयन यह नाम सार्थक हो गया।

अनुवाद—उष्ण किरण वाले सूर्य के समान अधिक तेजस्वी मुनि नारद को लक्ष्य करके हर्ष से प्रफुल्लता को प्राप्त हुये प्राप्त शोभा वाले अर्थात् शोभाशाली नेत्रों को धारण करते हुये वे भगवान् कृष्ण पुण्डरीकाक्ष अर्थात् कमल नयन (इस नाम से) सार्थक हो गये अर्थात् उनका पुण्डरीकाक्ष यह नाम सार्थक हो गया।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य के देखने से कमल विकसित हो जाता है उसी प्रकार सूर्य के सामन तेजस्वी नारद जी को देखकर भगवान् कृष्ण के दोनों सुन्दर नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये, इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण का जो 'पुण्डरीकक्ष' (कमल नयन) यह नाम प्रसिद्ध था वह आज सच्चा सिद्ध हो गया, क्योंकि सूर्य को देखकर कमलों का खिलना तो प्रसिद्ध ही है, आज सूर्य सदृश नारद जी को देखकर भगवान् के कमल सदृश नेत्र भी खिल गये थे।

समास विग्रहादि—निदाघं धाम यस्य स इति निदाघधामा तम् निदाघधामानम्। अधि अर्थात् अधिका दीधिति र्यस्य स तम् अधिदीधितिम्। अधिश्रिता श्री याभ्यां ते अधिश्रितश्रिणी ते—अतिश्रितश्रिणी। पुण्डरीके इव अक्षिणी यस्य स पुण्डरीकाक्षः।

संस्कृत टीका—निदाघं धाम यस्य तम् निदाघधामानम् उष्णरश्मिसूर्यम् इव—यथा, अधिदीधितिम्-समधिकतेजसम् मुनिम् नारदम् 'अभि-अभिलक्ष्य, मुदा-हर्षेण, विकासम्-प्रफुल्लताम्, उपेयुषी, उपगते, (अतएव) अधिश्रिता श्री यभ्यां ते अधिश्रितश्रिणी ते अधिश्रितश्रिणी-समुपलब्धशोभे, विलोचने नयने विभ्रत्-धारयन् सः हरिः, पुण्डरीके इव अक्षिणी यस्य सः पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकाक्ष इत्यभिधानः स्फुटः—अन्वर्थनामा अभवत् जातः अर्थात् पुण्डरीकाक्ष इति तस्य नाम सार्थक मभूत्।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनिः सूर्यवत् तेजस्वी आसीत्, एवम्भूतं नारद मभिलक्ष्य भगवतः श्रीकृष्णस्य कमले इव नेत्रे तथैव प्रफुल्लता मुपगते यथा सूर्यस्य दर्शनेन कमलद्वयं विकास मायाति। अनेन विधिना भगवत. श्री कृष्णस्य पुण्ठरीकाक्षः इति नाम सार्थक मभवत्।

व्याकरण—नि = दह् + घञ्—निदाघः । मुनिम् अभि = मुनि-मभिलक्ष्ये-त्यर्थः, अत्र 'अभिरभागे' इत्यनेन लक्षणार्थकाभियोगे 'अभि' इत्यस्य कर्म प्रवचनीय संज्ञा, अतः तद्योगे 'कर्म प्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति मुनिमित्यत्र द्वितीया । वि + कस् + घञ्—विकासः द्वितीयैक-वचने विकासम् । उप + इ + लिट्, लिटः स्थाने क्वसु प्रत्ययः । अधिश्रिता श्री याभ्यामिति विग्रहे श्री-शब्दात् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि कृते-अधिश्रितश्रिणी । वि + भृञ् + शतृ – विभ्रत्-'नाभ्यस्ताच्छतुः इति निषेधान्नुमभावः ।

विशेष—यहां पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है, क्योंकि 'विभ्रत्' पद का अर्थ, 'स्फुटोऽभवत्' का हेतु है । 'निदावधामानम् इव' यहाँ उपमालंकार है । इस उपमा पर ही यह काव्यलिङ्ग आधारित हैं अतः काव्यलिङ्ग और उपमा में अङ्गाङ्गिभाव संकर है ।

प्रसंग—इसके वाद भगवान् श्री कृष्ण ने नारद मुनि से वार्तालाप आरम्भकिया, इसी वात का वर्णन करते हुये महाकवि माघ कहते हैं—

सितं सितिम्ना सुतरां मुने र्वपु
विसारिभिः सौधमिवाऽथ लम्भयन् ।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः
शुचि स्मितां वाच मवोचदच्युतः ।। २५ ।।

अन्वय—अथ अच्युतः विसारिभिः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः सितं मुनेः वपुः सौधम् इव सुतरां सितिम्ना लम्भयन् शुचिस्मितां वाचम् अवोचत् ।

शब्दार्थ—अथ = दोनों के वैठ जाने के अनन्तर, अच्युतः = भगवान् श्री कृष्ण, विसरिभिः = प्रसरणशील अर्थात् फैलने वालों, द्विजावलिव्याजनिशा-करांशुभिः (द्विज = दांत, आवलि = पंक्ति, व्याज = वहाना, निशाकरांशु = चन्द्र किरण) = दन्तपंक्ति के वहाने चन्द्र किरणों से, सितम् = श्वेत वर्ण, मुनेः वपुः = नारद के शरीर को, सौधम् इव = राजभवन की तरह सुतराम् = अत्यधिक सितिम्ना = धवलिमा से, लम्भयन् = प्राप्त कराते हुये, शुचिस्मिताम् = कुछ-कुछ हास्य युक्त, वाचम् अवोचत्, वचन वोले ।

अनुवाद—दोनों के वैठ जाने के पश्चात् भगवान् श्री कृष्ण, फैलने वालीं अपने दन्त पंक्ति के व्याज से चन्द्र किरणों से श्वेत वर्ण नारद के शरीर को

राजभवन के समान, अत्यधिक धवलिमा से प्राप्त कराते हुये, अर्थात् श्वेत वर्ण भी नारद के शरीर को और अधिक श्वेत बनाते हुये कुछ कुछ हास्य युक्त वाणी बोले।

भावार्थ—चूने या कलई से पुते हुये राजभवन के समान नारद मुनि का शरीर स्वभावतः श्वेत वर्ण का था, इस पर भी भगवान् कृष्ण, अपनी श्वेत दन्तावली के बहाने मानों चन्द्र किरणों से उसे और भी अधिक धवलित करते हुये ईषत् हास्य युक्त वचन बोले। अर्थात् जिस प्रकार सफेदी से स्वत एव श्वेत रंग के राजभवन को श्वेत चन्द्रकिरणें और भी अधिक श्वेत बना देती हैं उसी प्रकार श्वेत वर्ण भी नारद के शरीर को अपनी श्वेत दन्तावली से और भी श्वेत बनाते हुये, भगवान् श्री कृष्ण ने मुस्कराते हुये ये वचन कहे।

समास विग्रहादि—द्विजाना मावलिः द्विजावलिः द्विजावलिः एव व्याजः यस्य स द्विजावलिव्याजः स चासौ निशाकरश्चेति द्विजावलिव्याजनिशाकरः तस्य अंशवः तैः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः। अभीक्ष्णं विसरन्ति इति विसारिणः तैः विसारिभिः। शुचि स्मितं यस्यां ताम् शुचिस्मिताम्।

संस्कृत टीका—अथ—हरिनारदोपवेशनादनन्तरम्, अच्युतः-भगवान् श्रीकृष्णः, विसारिभिः-प्रसरणशीलैः, द्विजावलिरेव व्याजो यस्य स द्विजावलिव्याजः स चासौ निशाकरः तस्य अंशवः तैः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः दन्तपंक्तिछद्मचन्द्रकिरणैः, सितं-स्वभावश्वेतं, मुनेः नारदस्य, वपुः—शरीरम्, सौधम्-राजभवनम्, इव-यथा, सुतराम्-अत्यन्तम्, सितिम्ना-धवलिम्ना, लम्भयन्-प्रापयन्, शुचिस्मिताम्-विशदेषद्धास्यसमन्विताम्, वाचम्-वाणीम् अवोचत् उक्तवान्।

संस्कृत सरलार्थ—राजभवनमिव नारदस्य शरीरं स्वत एव श्वेतवर्णमासीन। भगवान् श्रीकृष्णः श्वेतमपि नारदशरीरं स्वकीयदन्तावलिव्याजेन प्रसरणशीलैः इन्दुमयूखैरतिधवलयन् ईषद्धास्ययुक्तां वाणी मुक्तवान्। अर्थात् यथा श्वेतमपि राजभवनं चन्द्रगभस्तयोऽत्यधिकं धवलयन्ति तथैव श्वेतमपि नारदशरीरं भगवान् श्री कृष्णः स्वकीयश्वेतदन्तपंक्तिभि रतिधवलयन् विशदेषद्धास्ययुक्तां वाच मवोचत्।

व्याकरण—विसारिभि रित्यत्र विपूर्वकात् सृ धातोः वहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिप्रत्ययः तृतीयावहुवचने। सौध मित्यत्र सुधायाः अण्। सितशब्दात् इमनिच् प्रत्यये तृतीयैकवचने-सितिम्ना। सुतरामित्यत्राम्प्रत्ययः। अवोचदित्यत्र ब्रुवो वच्यादेशः, लुङि 'वच उम्' इत्युमागमो गुणश्च।

विशेष—'सौधम् इव' यहाँ पर उपमालंकार है। सितिम्ना लम्भयन्, यहाँ पर असम्बन्धरुपा अतिशयोक्ति अलंकार है। द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः, यहाँ उपमेय को छिपाकर उपमान को सत्य सिद्ध किया गया है अतः अपह्नुति अलंकार है। इस प्रकार यहां उक्त तीनों अलकार परस्पर निरपेक्ष हैं अतः संसृष्टि है।

प्रसंग—नारद जी के पापविनाशक दर्शन की प्रशंसा करते हुये भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—

हरत्यघं सम्प्रति हेतु रेष्यतः,
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्॥२६॥

अन्वय—भवदीयदर्शन शरीरभाजाम् कालत्रितये अपि योग्यताम् व्यनक्ति। (यतः) सम्प्रति अघम् हरति, एष्यतः शुभस्य हेतुः, पूर्वाचरितैः शुभैः कृतम्।

शब्दार्थ—भवदीयदर्शनम्=आपका दर्शन, शरीर भाजाम्=शरीरधारिणाम् दर्शकानाम्, कालत्रितये अपि=भूत आदि तीनों कालों में भी, योग्यताम्=पवित्रता को, व्यनक्ति=प्रकट करता है। (क्योंकि) सम्प्रति= इस समय वर्तमान कालिक दर्शन के समय, अघम्=पाप को, हरति=नाश करता है. एष्यतः=आगामी अथवा भावी, शुभस्य=पुण्य का, हेतुः= कारण (है) पूर्वाचरितैः=भूत काल में किये गये, शुभैः=पुण्यों से, कृतम् =प्राप्त हुआ (है)

अनुवाद—आपका दर्शन शरीरधारी दर्शकों की, तीनों कालों में भी अर्थात् भूत भविष्यत् और वर्तमान काल में भी पवित्रता को प्रकट करता है, (क्योंकि) यह इस समय अर्थात् वर्तमान काल में पाप को विनष्ट करता है, (और) आने वाले अर्थात् भविष्य में होने वाले कल्याण का निदान (है) तथा पहले अर्थात् भूतकाल में किये गये पुण्यों से (यह) प्राप्त हुआ है।

समास विग्रहादि—भवतः इदं भवदीयम् तच्च तद् दर्शन मिति भवदीय-दर्शनम्। शरीरं भजन्ति ये ते शरीरभाज स्तेषां शरीरभाजाम्। त्रयः अवयवा यस्य तत् त्रितयम् कालस्य त्रितयम् तस्मिन् कालत्रितये। योग्यस्य भावस्ताम् योग्यताम्।

संस्कृत टीका—भवदीयदर्शनम्-त्वदीयदर्शनम्, शरीरभाजाम् देहधारिणाम् (दर्शकानाम्) कालत्रितये-भूतादिकालत्रितये अपि, योग्यताम्-पवित्रताम्, व्यनक्ति-प्रकटी करोति। (यतः) सम्प्रति—इदानीं वर्तमानकाले, अघम्-पापम्, हरति नाशयति, एष्यतः=आगामिनः भाविनो वा, शुभस्य कल्याणस्य, हेतुः-निदानम् (अस्ति) पूर्वाचरितैः प्रागनुष्ठितैः, शुभैः-सुकृतैः, कृतम्-लब्धम् उपगतम्।

संस्कृत सरलार्थ—भगवान् श्रीकृष्णः कथयति—हे मुने भवतां दर्शनं भूतभविष्यद्वर्तमानरूपकालत्रितयेऽपि शरीरधारिणां द्रष्टृणाम् मादृशां जनानां पवित्रतां प्रकटयति, यत एतद् दर्शनं वर्तमानसमये पापं नाशयति, भाविनः कल्याणस्य च निदान मस्ति अथ चैतत् प्रागनुष्ठितपुण्यै रूपलब्ध मस्ति। एवं भवदीय-दर्शनं कालत्रितयेऽपि सौभाग्यसूचक मस्ति।

व्याकरण—'भवत्' शब्दाच्छप्रत्ययः तस्य ईयादेशः—भवदीयम्। दृश् धातो र्ल्युट् प्रत्यये—दर्शनम्। शरीर+भज्+ण्विप्रत्ययः—षष्ठी बहुवचने शरीरभाजाम्। त्रि+तयप् प्रत्ययः—त्रितयम्। वि+अञ्ज् धातो र्लटि प्रथम पुरुषैक वचने—व्यनक्ति। इण् धातोः लृट्-शतृ षष्ठयेक वचने-एष्यतः।

विशेष—यहाँ 'हरति आदि तीनों वाक्यों का अर्थ 'शरीर-भाजाम्' इत्यादि कथन में हेतु है अतः वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण नारद जी से कहते हैं कि आपका तेज हजारों सूर्य से भी अधिक है क्योंकि आपका तेज अज्ञानान्धकार का नाशक है—

जगत्य पर्याप्तसहस्रभानुना,
न यन्नियन्तुं समभावि भानुना।
प्रसह्य तेजोभिरसङ्ख्यताङ्गतै—
रदस्त्वया नुन्न मनुत्तमं तमः॥२७॥

अन्वय—जगति अपर्याप्तसहस्रभानुना भानुना यत् (तमः) नियन्तुम् न समभावि। अनुत्तमम् अदः तमः असंख्यताम् गतैः तेजोभिः प्रसह्य त्वया नुत्तम्।

शब्दार्थ—जगति=लोक में, अपर्याप्तसहस्रभानुना=(अपर्याप्त-असमर्थ अथवा जो समा न सकें भानु=किरण)=न समा सकने वालीं अथवा असमर्थ सहस्र किरणों वाले, भानुना=सूर्य के द्वारा, यत्–जो (तमः=अज्ञानान्धकार) नियन्तुम्=दूर करने के लिए, न समभावि-न हो सका। अनुत्तमम्=सर्वाधिक, अदः=यह, तमः=अज्ञानान्धकार, असंख्यतां गतैः=अनन्त अथवा असंख्येय, तेजोभिः=अपने तेजों से, प्रसह्य=बलात्, त्वया=आपके द्वारा, नुत्तम्=छिन्न कर दिया गया।

अनुवाद—संसार में अपर्याप्त अर्थात् न समा सकने वालीं अथवा असमर्थ सहस्र किरणों वाले सूर्य के द्वारा जो (अज्ञानान्धकार) दूर न हो सका, सर्वाधिक यह अज्ञानान्धकार, असंख्येय अपने तेजों से आपके द्वारा बलात् छिन्न कर दिया गया है।

समास विग्रहादि—न पर्याप्ता अपर्याप्ताः अपर्याप्ताः सहस्रं भानवः यस्य स तेन अपर्याप्तसहस्रभानुना। नास्ति उत्तमं यस्मात् तत् अनुत्तमम्।

संस्कृत टीका—जगति-लोके, अपर्याप्ताः सहस्रं भानवो यस्य तेन अपर्याप्तसहस्रभानुना अपरिच्छिन्नसहस्रकिरणेन, भानुना-सूर्येण, यत्—अस्माकं यन्मोहात्मकं तमः, नियन्तुं-दूरीकर्तुम, न समभावि-न शेके, न विद्यते उत्तमं यस्मात्तत् अनुत्तमम्-सर्वाधिकं गहनम्, अदः-एतत्, तमः-अज्ञानध्वान्तम्, असंख्यतां गतैः—असंख्यैः, तेजोभिः-स्वकीयज्ञानमयधामभिः, प्रसह्य-बलात्, त्वया-भवता नारदेन, नुत्तम्—छिन्नं निरस्तमिति वा। (नुन्नमिति पाठेऽप्ययमेवार्थः।

संस्कृत सरलार्थ—भगवान् श्रीकृष्णो नारद मुनि मकथयत् यल्लोकेऽस्मिन्नादित्यः स्वसहस्रकिरणैरपि यदज्ञानप्रभवं तमो निवारयितुं न प्राभवत् तदज्ञानसम्भव मस्माकं तम स्त्वया स्वागणिततेजोभि र्वलान्निरस्तम्।

व्याकरण—नि+यम्+तुमुन्=नियन्तुम्, सम+भू+भावे लुङि=समभावि। नुद्+क्त=नुत्तम् 'नुदविद' इत्यादिना विकल्पविधानान्निष्ठानत्वाभावे नुत्तम् पक्षे नुन्नमिति।

विशेष—यहाँ उपमान भूत भानु से उपमेयभूत मुनि का आधिक्य वर्णन है, क्योंकि सूर्य की तो सहस्रसंख्यक किरणें हैं पर मुनि के असंख्य तेज हैं, सूर्य जिस अन्धकार को दूर न सका, मुनि ने उसे दूर कर दिया, अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में नारद मुनि को वेदों का अक्षय निधि बतलाते हुये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा
सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो
निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव ॥२८॥

अन्वय—प्रजाक्षेमकृता सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना प्रजासृजा त्वम् धन-सम्पदाम् इव श्रुतीनाम् सदा उपयोगेऽपि अक्षयः गुरुः निधिः कृतः।

शब्दार्थ—प्रजाक्षेमकृता=(प्रजा—जन १, सन्तान २) प्रजाओं का कल्याण करने वाले, सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना=(सुपात्र-योग्यपुरुष १ दृढ़ पात्र २) निक्षेप-प्रदान १ निधान, रखना २, निराकुलात्मना-स्वस्थ अथवा निश्चिन्त मन—सुपात्र को देकर अथवा दृढ़ पात्र में रखकर स्वस्थ मन वाले, प्रजासृजा=ब्रह्मा तथा जनयिता पिता के द्वारा, त्वम्-नारदमुनिः, धनसम्पदाम् इव=धन सम्पत्तियों की भाँति, श्रुतीनाम्=वेदों के, सदा उपयोगेऽपि=सदा दान भोग आदि के द्वारा व्यय करने पर भी, तथा व्यय करने में (अर्थात् अध्ययन अध्यापन आदि में सदा प्रयुक्त करने पर भी) अक्षयः=नाशरहित, गुरुः—उपदेष्टा १ महान् २, निधिः=प्रतिदान १ निधान २, कृतः=प्रवर्तित किया १ भली भाँति स्थापित किया है।

अनुवाद—लोक का कल्याण करने वाले (सन्तान का हित करने वाले) योग्य पुरुष में प्रतिदान करने से स्वस्थचित्त वाले (अच्छे वर्तन-तिजोरी आदि में रख देने के कारण निश्चिन्त मन वाले) लोक सृष्टा ब्रह्मा के द्वारा (सन्तानोत्पादक पिता के द्वारा) तुम (नारद मुनि) धन सम्पत्तियों के समान वेदों के सदा उपयोग करने पर भी (शिक्षण में तथा व्यय में) नाश न होने वाले अति महान् कोष बनाये गये हो।

भावार्थ—प्रस्तुत श्लोक में श्लेष के द्वारा कवि ने यह बतलाया है कि जिस प्रकार सन्तान हितैषी पिता धन को सुदृढ़ पात्र तिजोरियों आदि में रख कर निश्चिन्त हो जाता है और उसके पुत्र द्वारा दान और भोग में व्यय करने पर भी वह धन अक्षय निधि के समान कभी समाप्त नहीं होता उसी प्रकार प्रजाहित कारी ब्रह्मा भी आपको वेदों का खजाना सौंप कर निश्चिन्त हो गये हैं और आपके उपदेशादि के द्वारा उपयोग करने पर भी वह वेदज्ञान-रूपी अक्षय निधि कभी समाप्त नहीं होती। इस प्रकार आप जैसे वेदज्ञान-निधि के दर्शन किसे कल्याणकर न होंगे ? अर्थात् आपके दर्शनों से सभी का हित होगा।

समास विग्रहादि—प्रजानां क्षेमं कृतवानिति प्रजाक्षेमकृत् तेन प्रजाक्षेम-कृता। सुपात्रे यः निक्षेपः तेन निराकुलः आत्मा यस्य सः तेन सुपात्रनिक्षेप-निराकुलात्मना। प्रजाः सृजति इति प्रजासृट् तेन प्रजासृजा।

संस्कृत टीका—प्रजाक्षेमकृता—लोकहितकारिणा, अन्यत्र स्वसन्ततिहितै-षिणा, सुपात्रे निक्षेपेण निराकुलः आत्मा यस्य तेन सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना-योग्यपुरुषप्रतिदानस्वस्थचित्तेन अन्यत्र लौहादिदृढ़पात्रनिधाननिश्चिन्त-चित्तेन, प्रजासृजा-प्रजापतिना ब्रह्मणा अन्यत्र पुत्रिणा, त्वम्-भवान् नारदः, धनसम्पदाम्-धनसम्पत्तीनाम् इव श्रुतीनाम्-वेदानाम्, सदा-सर्वदा, उपयोगे-प्रयोगे अपि, शिक्षणे अन्यत्र व्यये, अक्षयः—नाशरहितः, गुरुः-उपदेष्टा अन्यत्र महान्, निधिः-निक्षेपः अन्यत्र निधानम्, कृतः—प्रवर्तितः अन्यत्र संस्थापितः।

संस्कृत सरलार्थ—यथा कश्चित् स्वसन्ततिहितैषी पिता स्वश्रमेणार्जितं धनं कस्मिंश्चिद् दृढ़लौहभाजने निधाय निश्चिन्तो भवति, तदनु तत्पुत्रेण दान-भोगादिषु प्रयुक्तेऽपि तद्धने तन्नैव क्षयं याति अपि तु अतिमहान् अक्षयो निधिरिव तत्सदैव तिष्ठति, तथैव लोकहितैषी प्रजापति स्तुभ्यं वेदनिधिं समर्प्य स्वस्थचित्तोऽभवत्, अधुना भवता शिक्षणोपदेशादिषु नित्यं प्रयुक्तेऽपि तस्मिन् वेदनिधौ, सोऽक्षयो निधि र्न कदापि क्षयं याति अपि तु सदैव तिष्ठति वर्धते च। एवम्भूतस्य ज्ञाननिधानस्य भवतो दर्शनेन को न श्लाघ्यतां यास्यति ?

व्याकरण—प्रजा+क्षेम+कृ+क्विप् तुगागम तृतीयैकवचने—प्रजाक्षेम-कृता। प्रजा+सृज्+क्विप् तृतीयैकवचने-प्रजासृजा। उप+युज्+घञ् सप्तम्येक वचने-उपयोगे, नि+धा+कि—निधिः श्रु+क्तिन—श्रुतिः षष्ठी

वहुवचने श्रुतीनाम्। न+क्षि+अच्—अक्षयः। सम्+पद्+क्विप् सम्पद् षष्ठी बहुवचने सम्पदाम्।

विशेष—यहाँ श्लेप अलंकार है।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण नारद से कहते हैं कि यद्यपि मैं आपके दर्शन से ही कृतार्थ हो गया हूँ तथापि आप की वाणी को सुनना चाहता हूँ—

विलोकनेनैव तवामुना मुने,
कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसी—
गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥२९॥

अन्वय—मुने! निवर्हितांहसा अमुना तव विलोकनेन एव कृतार्थः कृतः अस्मि। तथापि अहम् गरीयसीः गिरः शुश्रूषुः (अस्मि,) अथवा श्रेयसि केन तृप्यते।

शब्दार्थ—मुने-हे नारदमुनि! निवर्हितांहसा=पापों को दूर करने वाले, तव=तुम्हारे (नारद जी के) अमुना-इस, विलोकनेन=दर्शन से, एव-ही, कृतार्थः=सफल मनोरथ, कृतः=किया गया, अस्मि—हूँ। तथापि अहम्—श्रीकृष्ण, गरीयसीः=अर्थपूर्ण अतएव उत्कृष्ट, गिरः—वाणियों-वचनों को, शुश्रूषुः=सुनने के लिये इच्छुक (हूँ)। अथवा श्रेयसि=कल्याण के विषय में, केन तृप्यते=कौन तृप्त होता है? अर्थात् कोई नहीं।

अनुवाद—हे नारदमुनि! (यद्यपि मैं) पापों को दूर करने वाले तुम्हारे इस दर्शन से ही सफल मनोरथ कर दिया गया हूँ, तथापि मैं (आपके) अर्थ-गौरवविशिष्ट उत्कृष्ट वचनों को सुनने का इच्छुक हूँ। अथवा कल्याण के विषय में कौन परितृप्त होता है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण ने नारद जी से कहा कि यद्यपि मैं आपके इस पापापहारी दर्शन से ही सफलमनोरथ हो गया हूँ अब मुझे और कुछ न चाहिये, तो भी मैं आपके वचनों को सुनना चाहता हूँ क्योंकि वे अर्थगौरव पूर्ण विशिष्ट वचन हैं, अथवा यों समझना चाहिये कि कल्याणमयी वस्तुओं या वचनों से किसकी तुष्टि होती है? अर्थात् किसी की नहीं, सभी लोग

अधिक से अधिक मंगलमय पदार्थों के लिये सदा उत्सुक रहते हैं, आपके वचन भी कल्याण कर हैं अतः मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ।

समास विग्रहादि—निर्वहितम् अंहः येन तत् निर्वहिताहः तेन निर्वहितांहसा। कृतः अर्थः यस्य स कृतार्थः। श्रोतुमिच्छुः शुश्रूषुः। अतिशयेन गुर्व्यः ताः गरीयसीः।

संस्कृत टीका—मुने–हे मुने नारद! निर्वहितम् अंहः येन तेन निर्वहितांहसा निरस्तकिल्बिषेण, तव-भवतः नारदस्य अमुना-शुभेन विलोकनैन-दर्शनेन एव (अहम्) कृतार्थः कृतकृत्यः कृतः विहितः अस्मि, तथापि अहं श्रीकृष्णः (तव) गरीयसीः–अर्थगौरवविशिष्टाः, गिरः-वाचः शुश्रूषुः श्रोतुमिच्छुः (अस्मि) अथवा-तथाहि, श्रेयसि-कल्याणविषये केन तृप्यते केन जनेन तृप्तेन परितुष्टेन भूयते न केनापीत्यर्थः।

संस्कृत सरलार्थ—भगवान् श्रीकृष्णः नारद मित्याह-यत् यद्यपि अहं भवतोऽनेनैव निरस्तपापेन दर्शनेन धन्यः कृतकृत्यश्च समभवम्, अथापि अहं भवदीयाः अर्थवत्तराः वाचः श्रोतुमिच्छुरस्मि, तथाहि कल्याणकारिपदार्थ-विषये वचनविषये या न कोऽपि तृप्तिमायाति, पुनः पुनरपि श्रृण्वन् जनः भूयोऽपि श्रोतुमिच्छति।

व्याकरण—वि+लोक्+ल्युट् (अन) तृतीयैकवचने-विलोकनेन। गुरु शब्दात् "द्विवचन—इत्यादिना' ईयसुन् प्रत्ययः 'उगितश्च' इति ङीप् प्रत्ययः 'प्रयस्थिर-इत्यादिना गुरोर्गरादेशः द्वितीया-बहुवचने-गरीयसीः। सन्नन्तात् श्रुधातोः उप्रत्ययः-शुश्रूषुः। तृप् धातो र्भावे लट् यक् प्रथम पुरुषैक वचने–तृप्यते।

प्रसंग—भगवान् श्री कृष्ण नारदमुनि के आगमन का प्रयोजन जानने के लिये उनसे इस प्रकार कहते हैं—

गतस्पृहोऽप्यागमन प्रयोजनं,
वदेति वक्तुं व्यसीयते यया।
तनोति नस्ता मुदितात्मगौरवो.
गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्॥३०॥

अन्वय—गतस्पृहः अपि (त्वम्) आगमनप्रयोजनम् वद, इति वक्तुम् यया

व्यवसीयते उदितात्मगौरवः गुरुः एष तव आगमः एव नः ताम् धृष्टताम् तनोति ।

शब्दार्थ—गतस्पृहः—समस्त इच्छाओं से रहित, निरभिलापी विरक्त, अपि—भी (आप) आगमन प्रयोजनम्=अपने आने का उद्देश्य, वद—कहिये या बतलाइये । इति वक्तुम्=यह कहने के लिये, यया—जिस (धृष्टता से) व्यवसीयते=उद्यत किया जा रहा हूँ । उदितात्मगौरवः=मेरे गौरव को प्रख्यापित करने वाला, गुरुः=श्लाघनीय, एष—यह, तव-आपका, आगमः= =आगमन, एव-ही, नः=हम लोगों की, ताम्-उस, धृटताम्-धृष्टता को, तनोति=बढ़ा रहा है ।

अनुवाद—निरीह भी (आप) (अपने) आगमन का प्रयोजन, बतलाइये, यह कहने के लिये जिस (धृष्टता से) से मैं उद्यत किया जा रहा हूँ, अपने गौरव को प्रख्यापित करने वाला महनीय यह आपका आगमन ही हमारी उस धृष्टता को बढ़ा रहा है ।

भावार्थ—भगवान् श्री कृष्ण नारद मुनि से कहते हैं कि वस्तुतः आप जैसे निरीह महर्षि से यह पूँछना कि आप के आने का क्या प्रयोजन है, धृष्टता ही है । परन्तु जो धृष्टता मुझे आप से ऐसा पूँछने के लिये उद्यत कर रही है मुझ में इस धृष्टता को बढ़ावा देने वाला आपका वह यह श्रेष्ठ आगमन ही है जिससे मुझे इतना आत्मगौरव प्राप्त हुआ है । अर्थात् यद्यपि यह धृष्टता अनुचित है फिर भी यह धृष्टता मुझ में आपके आगमन से ही उत्पन्न हुई है अतः क्षम्य है, यदि आप न आते और आपके आगमन से यदि मुझे गौरव प्राप्त न होता तो सम्भवतः मैं ऐसी धृष्टता न दिखाता और आप से आगमन का प्रयोजन न पूँछता, अतः आप मेरी इस धृष्टता पर ध्यान न देकर अपने आगमन का प्रयोजन बतलावें ।

समास विग्रहादि—गता स्पृहा यस्य स गतस्पृहः । आत्मनः गौरवम् आत्मगौरवम् उदितम् आत्मगौरव येन स उदितात्मगौरवः । गुरो भावः गौरवम् ।

संस्कृत टीका—गता स्पृहा यस्यासौ गतस्पृहः निःस्पृहः विरक्त इत्यर्थः अपि (त्वम्) आगमनस्य प्रयोजनम् आगमनप्रयोजनम् स्वागमनकारणम्, वद-कथय, इति-इत्थम्, वक्तुम्-कथयितुम् यया धृष्टतयेत्पर्थः व्यवसीयते-उद्यम्यते । उदितम् आत्मनः गौरवं येनासौ उदितात्मगौरवः प्रख्यापितस्वीयगौरवः,

गुरुः—श्लाघ्यः, तव-भवतः, एष-अयम्, आगमः—आगमनम्, एव, नः-अस्माकम्, ताम् धृष्टताम्-अनुचितामपीमां धृष्टताम् तनोति-विस्तारयति ।

संस्कृत सरलार्थ—भगवान् श्रीकृष्णो नारदं कथयति यदहं येन मदीयेन जिज्ञासाधार्ष्ट्येन वीतरागस्य निरीहस्य भवतोऽत्रागमनस्य प्रयोजनं प्रष्टुं प्रेरितोऽस्मि तज्जिज्ञासाधार्ष्ट्यं प्रख्यापितमन्माहात्म्यातिशयो भवदागम एव सम्वर्द्धयति अर्थात् अहमिच्छामि भवदागमनप्रयोजनं ज्ञातुम् ।

व्याकरण—वि+अव+सो+भावे लट् प्रथम पुरुषैक वचने-व्यवसीयते । वच्+तुमुन—वक्तुम् । धृष्ट+तल् द्वितीयैक वचने-धृष्टताम् । तनुविस्तारे लट्-तनोति ।

विशेष—यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है, क्योंकि "पर्यायोक्तं विना वाच्य-वाचकत्वेन यद् वचः" इस लक्षण के अनुसार यहाँ 'निरीह या गतस्पृह भी आप से मैं आपके आगमन का प्रयोजन पूंछता हूँ' इस बात को शब्दों द्वारा साक्षात् रूप से नहीं कहा गया है अपितु यहाँ यह बात अर्थतः लब्ध होती है ।

प्रसंग—आपके दर्शन प्राप्त करने से बढ़कर यहाँ मेरे आने का और क्या प्रयोजन हो सकता है, इसी बात को नारद जी भगवान् श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती,
न वाच्य मित्थं पुरुषोत्तम त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः,
किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥३१॥

अन्वय—इति ब्रुवन्तम् तम् स व्रती उवाच । हे पुरुषोत्तम ! त्वया इत्थम् न वाच्यम् । योगिनामपि त्वमेव साक्षात् करणीयः इत्यतः गुरु कार्यम् किम् अस्ति ।

शब्दार्थ—इति=इस प्रकार, ब्रुवन्तम्=कहने वाले, तम्=उन भगवान् श्री कृष्ण से, स व्रती=वह मुनि नारद, उवाच=बोले, हे पुरुषोत्तम नरश्रेष्ठ, त्वया=तुम्हारे द्वारा, इत्थम्=इस प्रकार । न वाच्यम्=न कहा जाना चाहिये । योगिनामपि=योगियों के भी, त्वमेव=तुम ही अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण ही, साक्षात् करणीयः=साक्षात् कार करने योग्य हो, इत्यतः=अतः

इससे बढ़ कर, गुरु कार्यं किमस्ति=बड़ा कार्य और क्या है, अर्थात् कोई नहीं।

अनुवाद—इस प्रकार कहने वाले उन भगवान् श्री कृष्ण से उन मुनि नारद ने कहा, हे नरोत्तम! आपके द्वारा ऐसा न कहा जाना चाहिये। योगियों के भी तुम ही साक्षत् करने योग्य हो, और इससे बढ़कर बड़ा कार्य क्या होता है अर्थात् कोई नहीं। (आपका दर्शन ही सबसे बड़ा प्रयोजन है क्योंकि योगी जन भी आपका दर्शन चाहते है और मेरा भी यही प्रयोजन है)।

भावार्थ—भगवान् श्री कृष्ण के इस प्रकार कहने पर नारद जी ने उनसे कहा कि आपको ऐसा न कहना चाहिए, आपके दर्शन तो योगिजन भी चाहते हैं फिर इस आपके दर्शन के अतिरिक्त मेरा और क्या प्रयोजन हो सकता है, मैं भी आपके दर्शन के लिये ही आया हूँ, इससे बढ़कर मेरा अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

समास विग्रहादि—व्रतम् अस्यास्तीति व्रती। योगोऽस्त्येषान्ते योगिनस्तेषां योगिनाम्। पुरुषेषूत्तमः पुरुषोत्तमः तत्सम्बोधने पुरुषोत्तम।

संस्कृत टीका—इति—इत्थम्, ब्रुवन्तम्—कथयन्तम्, तम्—भगवन्तं श्री कृष्णम्, स व्रती-स महर्षिनारदः, उवाच–उक्तवान्, हे पुरुषोत्तम—नरोत्तम भगवन् श्रीकृष्ण! त्वया—भवता, इत्थम्—एवं, न वाच्यम्—न कथनीयम्। योगिनामपि=समाहितचित्तानां योगिजनानामपि, त्वमेव—भगवान् श्रीकृष्ण एव, साक्षात्करणीयः—प्रत्यक्षीकर्तव्यः, इत्यतः=अस्मात् परम्, गुरु—महान्, कार्यम्—कर्तव्यम्, किमस्ति—न किमपीत्यर्थः।

संस्कृत सरलार्थ— एव मुक्तप्रकारेण कथयन्तं भगवन्तं श्रीकृष्णं स महर्षिः नारद एव माह हे नरोत्तम! भवता नैवं कथनीयम्। योगिनोऽपि भवद्दर्शन मेवाभिलषन्ति, नास्मात् परं ते किञ्चिदपि वाञ्छन्ति, अस्मत्कृतेऽपि भवद्दर्शन मेव परं कार्यम्, नातोऽधिकं किमप्यन्यत् कार्यमस्ति, अर्थात् भवद्दर्शनार्थमेवाहमत्रागतः।

व्याकरण—ब्रू+शतृ द्वितीयैक वचने-ब्रुवन्तम्। व्रत+इनि=व्रती। वच् धातो लिटि प्रथमपुरुषैकवचने—उवाच। वच्+ण्यत्— वाच्यम्। योग+तद्धित इन्—योगिनः षष्ठीबहुवचने—योगिनाम्।

प्रसंग—"योगियों के द्वारा भी आपका ही साक्षात्कार किया जाता है" इसी बात का समर्थन करते हुये नारद जी कहते हैं—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनै—
रभीक्ष्णमक्षुण्णतयातिदुर्गमम् ।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विन—
स्त्वमग्रभूमि निरपायसंश्रया ॥३२॥

अन्वय—उदीर्णरागप्रतिरोधकम् अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अतिदुर्गमम् मोक्षपथम् उपेयुषः मनस्विनः त्वम् एव निरपायसंश्रया अग्रभूमिः (असि)।

शब्दार्थ—उदीर्णरागप्रतिरोधकम्-(उदीर्ण = बढ़ी हुई, राग = विषयाभिलाषा, प्रतिरोधक-प्रतिबन्धक) = बढ़ी हुई विषयभोगों की अभिलाषा ही जिसमें प्रतिबन्ध है। (तथा) अभीक्ष्णम् = पुनः पुनः-बार बार। अक्षुणतया = अनभ्यस्त होने के कारण अर्थात् जिस पर बार बार चलने का अभ्यास न होने के कारण। जनैः = लोगों के द्वारा, अतिदुर्गम् = अतिगहन-अगम्य— पहुँचने के लिये अतिकठिन। मोक्षपथम् = मुक्ति मार्ग को, उपेयुषः = प्राप्त कर लेने वाले, मनस्विनः—उदारचरित्र धैर्यशाली मुमुक्षुजन के अर्थात् मोक्षार्थीजन के लिये, त्वमेव = आप ही अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ही, निरपायसंश्रया = ऐसी प्राप्ति जिसमें पुनरावर्त्तन न हो अर्थात् जन्म मरण के भय से रहित, अग्रभूमिः = प्राप्यस्थान अर्थात् भयरहित परमपद (असि = हो)।

अनुवाद—(लोगों की) प्रवृद्ध विषयभोगेच्छा ही जिस (मार्ग) में प्रतिबन्धक है (तथा) जो पुनः पुनः अनभ्यस्त होने के कारण अर्थात् जो मार्ग बार बार चलने के अभ्यास के न होने के कारण, मुमुक्षु जनों द्वारा अत्यन्त अगम्य है ऐसे मुक्तिमार्ग को प्राप्त कर लेने वाले उदारचरित्र मोक्षार्थीजन के लिये आप ही पुनरागमन रहित प्राप्ति वाले परम पद हो।

भावार्थ—नारद जी भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं कि उस मोक्ष मार्ग को भी जिसमें कि लोगों की विषय भोगेच्छा ही प्रबल प्रतिबन्धक है और जोकि बारम्बार चलने में अभ्यस्त न होने के कारण अति दुर्गम है, प्राप्त कर लेने वाले उदारचित मुमुक्षुजन के लिए आप ही वह परम पद हैं जिसे प्राप्त कर फिर पुनरागमन नहीं होता अर्थात् जो पद जन्म मरण के भय से

सदा रहित एवं शाश्वत है, अतः आप से बढ़कर और कौन हो सकता है अत एव मैं भी आपके दर्शन के लिये ही आया हूँ।

समास विग्रहादि—उदीर्णश्चासौ रागः उदीर्णरागः स एव प्रतिरोधको यस्मिन् स तम्—उदीर्णरागप्रतिरोधकम्। न क्षुण्णः अक्षुण्णः तस्य भावः तया-अक्षुण्णतया, दुःखेन गम्यते दुर्गमः अतिशयितः दुर्गम इति अतिदुर्गमः तम्—अतिदुर्गमम्। मोक्षस्य पन्थाः मोक्षपथस्तम् मोक्षपथम्। प्रशस्तं मनोऽस्यास्तीति मनस्वी तस्य मनस्विनः। निर्गतः अपायः यस्मात् स निरपायः, निरपायः संश्रयः यस्याः सा-निरपायसंश्रया।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में, श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा, ऊपर बतलाये गये, श्री कृष्ण और मुमुक्षु जन से सम्बद्ध प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ, चोर आदि से भयभीत और दुर्गम कान्तार मार्ग से जाते हुये व्यक्ति द्वारा निर्बाध स्थान की प्राप्तिरूप अप्रस्तुत अर्थ की भी व्यञ्जना है। अतः इस प्रतीयमान अर्थ-बोध के लिये उक्त शब्दों का अर्थ, अनुवाद, भावार्थ एवं समासादि इस प्रकार होंगे—

शब्दार्थ - उदीर्णरागप्रतिरोधकम=बढ़ी हुई विषयाभिलाषा वाला अर्थात् चोर आदि ही जिस (मार्ग) में प्रतिबन्धक अर्थात् रुकावट डालने वाला है। (तथा) अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अति दुर्गमम् जो बार-बार परिचित न होने के कारण पथिक जनों द्वारा अति दुस्तर एवं दुर्लङ्घ्य है (ऐसे भी) मोक्ष पथम् = निर्गमन मार्ग को, उपेयुषः = प्राप्तकर लेने वाले, मनस्विनः= उत्साही निर्भय पथिक के लिये, त्वमेव=तुम ही, निरपायसंश्रया=सम्पूर्ण भय रहित, अग्रभूमिः= प्राप्य स्थान, (असि-हो)

अनुवाद—प्रवृद्ध विषयाभिलाषी चोर आदि ही जिस (मार्ग) में रुकावट डालने वाला है (तथा) जो बार-बार परिचित न होने के कारण पथिकों द्वारा दुर्लङ्घ्य है (ऐसे भी) निर्गमन मार्ग को प्राप्त कर लेने वाले उत्साही एवं निर्भीक पथिक के लिये आप ही सकल भय रहित प्राप्य स्थान हैं।

भावार्थ जिस प्रकार कोई उत्साही पथिक, चोरादि की बाधाओं से भरे हुये एवं लोगों द्वारा बार-बार यातायात न होने के कारण दुर्लङ्घ्य कान्तार मार्ग से जाता हुआ जब कि एक ऐसे स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ कि किसी प्रकार का भय नहीं है तो वह फिर वहाँ से नहीं लौटता उसी

प्रकार, प्रवृद्ध विपयाभिलापायें जिसमें प्रतिवन्धक हैं और जो निरन्तर अनभ्यस्त होने के कारण मुमुक्षुओं द्वारा अति दुर्गम है ऐसे भी मोक्षपथ को प्राप्त कर लेने वाले उत्तम जन के लिये आप वह परम पद हैं जहाँ कि पहूंच कर फिर कोई नहीं लौटता अर्थात् वह जन्म मरण के दुःख से सर्वथा छूट जाता है।

समासादि—उदीर्णः रागः यस्य स उदीर्णरागः चौरादिः स एव प्रतिरोधको यस्मिन् तम् उदीर्णरागप्रतिरोधकम्। शेष पदों का समास विग्रहादि पूर्ववत् ही होगा।

संस्कृत टीका—उदीर्णः यः रागः स एव प्रतिरोधकः यस्मिन् स तम् उदीर्णराग प्रतिरोधकम् - प्रवृद्धसांसारिकविपयभोगेच्छाप्रतिवन्धकम् (अन्यत्र कान्तार पक्षे) उदीर्णः रागः यस्यासौ उदीर्णरागः चौरादिः स एव प्रतिरोधको यस्मिन्नसौ तम् उदीर्णरागप्रतिरोधकम्-प्ररुढाज्ञानान्धचौरादिविरोधिव्याप्तम् अभीक्ष्णम्—पौनः पुन्येन, अक्षुण्णतया-अनभ्यस्तत्वेन अन्यत्र अपरिचितत्वेन, जनैः–मुमुक्षुभिः अन्यत्र पथिकैः, अतिदुर्गमम्–अतिगहनम् अन्यत्र अतिदुस्तरम्, मोक्षपथम्–मुक्ति मार्गम् अन्यत्र निर्गमनमार्गम्, उपेयुषः-प्राप्तवतः, मनस्विनः-विरक्तस्य मोक्षार्थिनः अन्यत्र निर्भयस्य पथिकस्य, त्वमेव—भगवान् श्री कृष्णः, निरपायसंश्रया पुनरागमनरहिता अन्यत्र सर्वभयवर्जिता, अग्रभूमिः-जन्ममरणं-क्लेशविरहितं परं पदम् अन्यत्र प्राप्यस्थानम् (असि-इति शेपः)।

संस्कृत सरलार्थ—यथा चौरादिसङ्कुले सर्वथा अपरिचिते गहने कान्तारे गच्छतः पथिकजनस्य अग्रे किमपि सर्ववाधारहितमाश्रयस्थानं भवति तथैव ऐहिकसुखाभिलापादिविरोधिभावसङ्कुल, अथ चानभ्यस्तत्वेन अति दुर्गमं मोक्षमार्गं प्राप्तवतो मुने भंवान् श्री कृष्ण एव संसृतिभयवर्जितं परं पद मस्ति।

व्याकरण—उत्+ॠ+क्त=उदीर्णः, रञ्ज+घञ्=रागः, प्रति+रुध्+ण्वुल्-अक, गुण,=प्रतिरोधकः। मोक्षपथि नित्यतः "ॠक्पूरब्धूः इत्यादिना" समासान्तः अ प्रत्ययः=मोक्षपथः। उप+इण्-लिट्-क्वसु षष्ठ्येक वचने =उपेयुषः। अति+दुर्+गम्+खल् (अ)=अतिदुर्गमः। अक्षुण्ण शब्दात्तल् तृतीयैक वचने=अक्षुण्णतया। प्रशस्तं मनोऽस्येति मनस्वी—मनस् शब्दात् विनि प्रत्ययः षष्ठ्येक वचने मनस्विनः।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में प्रकृत अर्थ के साथ-साथ, श्लिष्ट विशेषणों द्वारा अप्रकृत द्वितीय अर्थ की व्यञ्जना हो रही है, अतः समासोक्ति अलंकार है, क्योंकि 'परोक्ति र्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः" यह समासोक्ति का लक्षण यहां संघटित हो रहा है।

प्रसंग—नारद जी कहते हैं कि सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित वह पुरुष आप ही हैं जिन का साक्षात्कार मुक्ति दायक होता है, क्योंकि आपको ही कपिलादि महर्षि प्रकृति से विविक्त पुरातन पुरुष जानते हैं।

उदासितारं निगृहीतमानसै—
गृहीत मध्यात्म दृशा कथञ्चन।
वहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः
पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥३३॥

अन्वय—पुराविदः त्वाम् निगृहीतमानसैः अध्यात्मदृशा कथञ्चन गृहीतम् उदासितारम् वहिर्विकारम् प्रकृतेः पृथक् पुरातनम् पुरुषम् विदुः।

शब्दार्थ—पुराविदः=पुरावृत्त के ज्ञाता कपिलादि मुनि, त्वाम्=आप, श्री कृष्ण को; निगृहीतमानसैः - मनको वशवर्त्ती कर लेने वाले अर्थात् योगि-जनों द्वारा, अध्यात्मदृशा—अन्त र्दृष्टि से, कथञ्चन=किसी भी प्रकार बड़े प्रयत्न से, निगृहीतम्+साक्षात्कार किये गये, उदासितारम्=उदासीन अर्थात् प्रकृति के स्वार्थ में प्रवृत्त होने पर भी उदासीन रहने वाले, वहिर्विकारम्= प्रकृति के विकार-महत्तत्व आदि से सर्वथा पृथक् और भिन्न रहने वाले, प्रकृतेः पृथक्=त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति से भिन्न, पुरातनम्-पुराण पुरुषम्=पुरुष पद से कहे जाने वाले आत्म रूप, विदुः=जानते हैं।

अनुवाद—पुरातत्त्वज्ञ कपिलादि मुनि आपको, मन को वश में कर लेने वाले योगियों द्वारा अन्तर्दृष्टि से, बड़े प्रयास से, किसी भी प्रकार साक्षात् कार किये गये, (तथा) प्रकृति प्रवृत्ति से उदासीन, महत्तत्वादि प्रकृति विकारों से भिन्न (एवम्) त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति से परे पुराण पुरुष अर्थात् आत्म स्वरूप जानते हैं।

भावार्थ—नारद जी भगवान् श्री कृष्ण से कहते हैं कि आप कोई साधा-रण लौकिक पुरुष नहीं हैं अपितु सच्चिदानन्दात्मक आत्मरूप ही हैं, क्योंकि कपिल आदि मुनिजनों ने आपको, निगृहीतचित्त वृत्ति वाले योगियों द्वारा

केवल अन्तर्दृष्टि से किसी भी प्रकार प्रयत्न पूर्वक साक्षात्कार करने योग्य बतलाया है और उन्होंने ही आपको प्रकृति प्रवृत्ति से उदासीन एवं उसके विकारों से परे तथा प्रकृति से पृथक् पुराण पुरुष बतलाया है। सांख्य दर्शन में ब्रह्म को या आत्मा को पुरुष कहा गया है जो पुरुष प्रकृति तथा उसके विकारों से पृथक रहने वाला चेतन स्वरूप है, वही आप हैं। अतएव उत्तम योगी भी आपका कठिनता से ही साक्षात् कार कर पाते हैं।

समास विग्रहादि—निगृहीतं मानसं यैस्ते तैः निगृहीतमानसैः। आत्मनि अधि इति अध्यात्मम्, अध्यात्मं या दृक् सा अध्यात्मदृक् तया अध्यात्मदृशा। विकारेभ्यो वहिः इति वहिर्विकारम्। पुरा भवः तम् पुरातनम्।

संस्कृत टीका—पुराविदः—पुरावृत्तज्ञाः कपिलादयो मुनयः, त्वाम् = भवन्तं श्री कृष्णम्, निगृहीतं मानसं यैस्ते तैः निगृहीतमानसैः—वशीकृतचित्तैः योगिजनैः, अध्यात्मदृशा-अन्तर्दृष्ट्या, कथञ्चन-महता प्रयत्नेन, निगृहीतम्-साक्षात्-कृतम्, उदासितारम् प्रवृत्तायामपि प्रकृतौ उदासीनभावेन स्थितम्, वहिर्विकारम्-महत्तत्वादिभ्यः प्रकृतिविकारेभ्यः भिन्नम्, प्रकृतेः पृथक् = त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेः पृथक् स्थितम्, पुरातनम्-पुराणम्, पुरुषम्-पुरुषेतिपद-वाच्यम् आत्म तत्वम्, विदुः—जानन्ति।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो भगवन्तं श्री कृष्ण माह—"नास्ति भवान् कोऽपि साधारणः पुरुषः, अपितु भवन्तं कपिलादयो मुनयः योगिभि रन्तर्दृशा ध्यान-गम्यं, मूल प्रकृते. तद्विकारेभ्यश्च परं, प्रकृतिप्रवृत्ते रुदासीन मथ च पुराण-पुरुषं जानन्ति, अर्थात् ते त्वाम् सांख्यदर्शनोक्तिदिशा पुरुषेति पद वाच्यं विदन्ति।

व्याकरण—आत्मनि अधि इति विग्रहे विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावेऽत्र 'अन-श्चेति' समासान्तष्टच् प्रत्ययः-अध्यात्मम्। उत्+आस्+तृच्-द्वितीयैक वचने-उदासितारम्। विकारेभ्यो वहिरिति विग्रहे "अपपरीत्यादिना" अव्ययी भावे-वहिर्विकारम्। पुरा+विद्+क्विप् = पुराविदः। पुरा इत्यतः "सायं-चिर" मित्यादिना ट्यु प्रत्ययः तुडागमश्च-पुरातनम्। विद् धातोः 'विदो लटो वेति' झि प्रत्ययस्योसादेशः—विदुः।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण को सांख्य शास्त्र में वर्णित पुरुष बतलाला गया है। सांख्य शास्त्र में २५ तत्त्व बतलाये गये हैं, इनमें एक मूल प्रकृति तत्व है जो कि किसी से भी उत्पन्न नहीं होती अतएव उसे

अविकृति एवं मूल प्रकृति कहा गया है। इस प्रकृति से महत्तत्व अहंकार तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पञ्चतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं, अतः ये महत्तत्वादि सात प्रकृति के विकार कहे जाते हैं, इन सप्त विकारों से भी सोलह तत्त्व अर्थात् मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा पञ्च महाभूत-पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश उत्पन्न होते हैं, फिर इन सोलह से और कुछ उत्पन्न नहीं होता अत एव ये सोलह केवल विकार मात्र माने गये हैं। इस प्रकार मूल प्रकृति अविकृति है, इससे उत्पन्न सप्त तत्व प्रकृति और विकृति दोनों है, इन से उत्पन्न षोडश तत्त्व केवल विकृति हैं। इस प्रकार १+७+१६=२४ तत्त्व होते हैं २५ वां तत्व पुरुप है जो कि न प्रकृति है और न विकृति, वह तो पुष्कर पलाशवत् निर्लेप एवं इन सबसे उदासीन है। प्रकृति सत्त्व रजस्तमोरुपा त्रिगुणात्मिका है पुरुप सर्वथा निष्क्रिय, अविकारी एवं त्रिगुणातीत है। वेदान्ती इसे ही आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। कपिल मुनि सांख्य शास्त्र के आदि आचार्य हैं।

प्रसंग—इन दो श्लोकों द्वारा भगवान् के निर्गुण स्वरूप का वर्णन कर अब नारद जी उनके प्रकृतोपयोगी सगुणस्वरूप का वर्णन आरम्भ करते हुये प्रथमतः उनके वाराहावतार के द्वारा पृथिवी के उद्धार का वर्णन करते हैं—

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं,
फणाभृतां छादन मेक मोकसः।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चै—
रहीश्वरस्तम्भशिरस्सु भूतलम् ॥३४॥

अन्वय—जगत्त्रैकस्थपतिः त्वम् हेलया उद्धृतम् फणाभृताम् ओकसः एकम् छादनम् भूतलम् उच्चकैः अहीश्वरस्तम्भशिरःसु निवेशयामासिथ।

शब्दार्थ—जगत्त्रयैकस्थपतिः=तीकों लोकों के एक मात्र शिल्पी अर्थात् निर्माता अत एव त्रैलोक्य के स्वामी, त्वम्=आपने अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने, हेलया=लीलापूर्वक अनायास ही, उद्धृतम्=उठाये गये, फणाभृताम्=फणधारी अर्थात् सर्पों के, ओकसः=निवास स्थान-आश्रय अर्थात् पाताल-लोक के, एकम्=मुख्य, छादनम्=आवरण अर्थात् आच्छादित करने वाले, भूतलम्=भूतल को, उच्चकैः=ऊँचे अथवा उन्नत, अहीश्वरस्तम्भशिरःसु

=(अहीश्वर=शेषनाग, स्तम्भ=खम्भे, शिरःसु=अग्रभागों पर)=सर्पराज शेष के शिर रूप खम्भों के ऊपर, निवेशयामासिथ=रख दिया था।

अनुवाद—लोकत्रय के एक मात्र शिल्पी अतएव त्रैलोक्याधिपति आपने अनायास ही ऊपर उठाये गये, (तथा) सर्पों के आश्रय-पाताल लोक के मुख्य आवरण भूत भूतल को उन्नत, सर्पराज शेष के शिर रूपी खम्भों पर रख दिया था।

भावार्थ—नारद जी भगवान् श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि तीनों लोक की रचना करने वाले आपने वाराह् अवतार के समय समुद्र से उस पृथिवी का उद्धार कर, जो कि सर्पों के निवास स्थान पाताल का एक मात्र छादन है, शेषनाग के शिर रूपी स्तम्भों पर रख दिया था और इस प्रकार जगन्निर्माणचातुरी दिखलाई थी।

समास विग्रहादि—जगतां त्रयमिति जगत्त्रयम्, एकश्चासौ स्थपतिः एकस्थपतिः, जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः जगत्त्रयैकस्थपतिः। फणाः बिभ्रति इति फणाभृतस्तेषां फणाभृताम्। अहीनामीश्वरः अहीश्वरः, स्तम्भरुपाणि शिरांसि स्तम्भशिरांसि, अहीश्वरस्य स्तम्भशिरांसि अहीश्वरस्तम्भशिरांसि तेषु अहीश्वरस्तम्भशिरःसु।

संस्कृत टीका—जगत्त्रयस्य एकस्थपतिः जगत्त्रयैकस्थपतिः=त्रैलोक्यैकशिल्पी त्रैलोक्याधिपतिः, त्वम्-भगवान् श्रीकृष्णः, हेलया-लीलया, उद्धृतम्—उत्थापितम्, फणाभृताम्=फणाधारिणां सर्पाणाम्, ओकसः—आश्रयस्य सद्मनः, एकम्—मुख्यम्, छादनम्=आच्छादकम्-आवरणम्, भूतलम्—पृथिवीतलम्, उच्चकैः=उन्नतेषु, अहीश्वरस्य स्तम्भरुपाणि यानि शिरांसि तेषु अहीश्वरस्तम्भशिरःसु-सर्पराजशेषशिरोरूपस्तम्भाग्रभागेषु, निवेशयामासिथ=निवेशितवानसि।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनि भंगवन्तं श्रीकृष्णं कथयति यत् वाराहावतारग्रहणसमये लोकत्रयाधिपति भंवानेव समुद्रात्तद्भूतलं, यदस्ति पाताललोकस्य मुख्य मावरणम्, उद्धृत्य शेषनागस्य शिरोरूपस्तम्भेषु निवेशितवान्।

व्याकरण—उत्+धृ+क्त=उद्धृतम। छद्+णिच्+ल्युट्=छादनम्। नि+पूर्वक विश्धातो लिटि मध्यम पुरुषैक वचने=निवेशयामासिथ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में विष्णु के वाराहावतार की ओर कवि का संकेत है, जब हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने पृथिवी को समुद्र में डुबो दिया था तब विष्णु ने वाराह अवतार लेकर और अपने दांतों पर पृथिवी को धारण कर हिरण्याक्ष से युद्ध कर उसका वध किया और पृथिवी का उद्धार किया था। यहाँ पाताल को गृह, पृथिवी को उसकी छत तथा शेष के शिरों को स्तम्भ कहाँ गया है जिस प्रकार कोई कुशल शिल्पी गृह के आवरण (छत) को उठाकर ऊँचे खम्भों पर रख देता है उसी प्रकार जगत् के शिल्पी भगवान् ने पृथिवी को पाताल के ऊपर छत बना कर उसे शेष के फणों पर रख दिया था।

प्रस्तुत श्लोक में श्लिष्ट परम्परित रूपक अलंकार है, क्योंकि यहाँ विष्णु पर स्थपति (शिल्पी) का आरोप किया गया है जिसके शिल्पी और अधिपति अर्थ हैं अतः यह श्लिष्ट रूपक है तथा इसी एक श्लिष्ट रूपक पर अन्य समस्त रूपक आधारित हैं।

प्रसंग—भगवान् श्रीकृष्ण के अपूर्व महत्व का वर्णन करते हुये नारदजी कहते हैं—

अनन्यगुर्व्यास्तव केन केवलः,
पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते।
मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान् गुणैः—
भवान् भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥३५॥

अन्वय—अनन्यगुर्व्याः तव पुराणमूर्तेः केवलः महिमा केन अवगम्यते। मनुष्यजन्मा अपि भवान् भवच्छेदकरैः गुणैः सुरासुरान् अधः करोति।

शब्दार्थ—अनन्यगुर्व्याः=असाधारणगौरवशालिनी, तव–आपकी, पुराणमूर्तेः=चिरन्तन स्वरूप की, केवलः=सम्पूर्ण, महिमा=माहात्म्य, केन अवगम्यते=किस पुरुष द्वारा जानी जाती है अर्थात् किसी के द्वारा भी नहीं। मनुष्यजन्मा अपि=मानव शरीर धारी होकर भी, भवान्=आप–श्रीकृष्ण, भवच्छेदकरैः=संसार निवर्तक, गुणैः=दयादाक्षिण्यादि गुणों द्वारा, सुरासुरान्=देव और असुरों को, अधः करोति=तिरस्कृत करते हैं।

अनुवाद—असाधारण गौरवशाली आपके चिरन्तनस्वरूप की सम्पूर्ण महिमा किससे जानी जाती है अर्थात् किसी भी पुरुष से नहीं। मानवशरीर-

धारी भी होकर आप संसारनिवर्तक (अपने) दयादाक्षिण्यादि गुणों द्वारा देवों तथा असुरों को तिरस्कृत करते हैं।

भावार्थ—नारदजी भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं कि आपसे बढ़कर कोई दूसरा गौरवशाली नहीं है, ऐसे पुराण पुरुष आपकी सम्पूर्ण महिमा को कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। क्योंकि मानव शरीरधारी यद्यपि आप इस समय हैं, तथापि आप अपने उन सद्गुणों से, जो कि संसार से मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं, देवों तथा असुरों को भी तिरस्कृत कर रहे हैं। अर्थात् मर्त्यलोक में मानव देहधारी होकर भी आप में वे सद्गुण हैं जिनसे आपने सभी देवताओं वा असुरों को भी तिरस्कृत कर रखा है। अतः आपकी अपार महिमा को कोई नहीं जान सकता है।

समास विग्रहादि—न विद्यते अन्यो गुरुर्यस्यास्तस्याः अनन्यगुर्व्याः। पुराण चासौ मूर्ति. तस्याः पुराणमूर्तेः। मनुष्यात् जन्म यस्य स मनुष्यजन्मा। भवस्य छेदः भवच्छेदस्तं कुर्वन्तीति भवच्छेदकरास्तैः भवच्छेदकरैः। सुराश्चासुराश्च तान् सुरासुरान्।

संस्कृत टीका—अनन्यगुर्व्याः—असाधारण गौरव शालिन्याः तव-भवतः श्री कृष्णस्य, पुराणा या मूर्तिस्तस्याः पुराणमूर्तेः। चिरन्तनदेहस्य, केवलः—सम्पूर्णः-महिमा-महात्म्यातिशयः. केन अवगम्यते-केन पुरुषेण ज्ञायते, अर्थात् न केनापि। मनुष्याज्जन्म यस्यासौ मनुष्यजन्मा-मानवविग्रहधारी अपि, भवान्—श्रीकृष्णः, भवस्य छेदः तं कुर्वन्ति तैः भवच्छेदकरैः, संसृतिमुक्तिदायकैः, गुणैः-दयादाक्षिण्यादिभिः, सुराश्चा सुराश्च तान् सुरासुरान्-देवासुरान्, अधः करोति-तिरस्करोति।

संस्कृत सरलार्थ—नारदः कथयति यदसाधारणगौरवशालिनो भवतः पुराणपुरुषस्य माहात्म्यातिशयं न कोऽपि ज्ञातुं पारयति। धृतमानवदेहोऽपि भवान् संसृतिविच्छेदकरैः स्वकीयैः दयादाक्षिण्यादिगुणैः देवान सुरांश्चापि तिरस्करोति।

व्याकरण—महत् शब्दात् इमनिच् प्रत्यये प्रथमैक वचने-महिमा, अव+गम्-लट् कर्मणि यक् प्रथम पुरुषैक वचने-अवगम्यते। मनुष्याज्जन्म यस्येति विग्रहे व्यधिकरण बहुव्रीहिः। छिद् धातोः घञ् प्रत्यये छेद इति।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के द्वितीयार्ध में व्यञ्जनों की असकृत आवृत्ति होने से यहां छेकानुप्रास अलंकार है।

प्रसंग—नारद जी भगवान् श्री कृष्ण से कहते हैं कि आपने तो पृथिवी का भार हल्का करने के लिये अवतार लिया था पर इस समय तो आप के द्वारा ही पृथिवी बोझिल की जा रही है—

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुरा—
ममुं किल त्वं त्रिदशाद वातरः।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं,
गुरु धरित्री क्रियते तरां त्वया ॥३३॥

अन्वय—त्वम् अतिभारभङ्गुराम् अमूम् लघूकरिष्यन्, किल त्रिदिवात् अवातरः। साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयेन त्वया धरित्री गुरुः क्रियते तराम्।

शब्दार्थ—त्वम्=आप—भगवान् श्री कृष्ण, अतिभारभङ्गुराम्= (दैत्यों के) अत्यधिक बोझ से टूटती हुई, अमूम्=इस-पृथिवी को, लघू करिष्यन्=हल्का करने वाले होते हुये अर्थात् इसे भार रहित करने के लिये, त्रिदिवात् अवातरः=स्वर्ग से अवतीर्ण हुये हैं। (किन्तु) साम्प्रतम्=इस समय, उदूढलोकत्रितयेन=तीनों लोकों को धारण कर लेने वाले, त्वया= आप के द्वारा, धरित्री-पृथिवी, गुरुः=बोझिल-भाराक्रान्त और पूज्य भी, क्रियते तराम्=और भी अधिक भाराक्रान्त अर्थात् गौरव-शालिनी बना रहे हैं।

अनुवाद—आप, (दैत्यों के) भाराधिक्य से (स्वयं) टूटने वाली इस पृथिवी को हल्का करने वाले होते हुये अर्थात् हल्का करने के लिये, स्वर्ग से अवतीर्ण हुये हैं (किन्तु) इस समय तीनों लोकों को धारण करने वाले आपके द्वारा पृथिवी और अधिक भाराक्रान्त अर्थात् पूज्या की जा रही है।

भावार्थ—नारद जी कहते हैं कि आप तो दैत्यों के भार से आक्रान्त इस पृथिवी के भार को दूर करने के लिए स्वर्ग से अवतीर्ण हुए हैं किन्तु इस समय तो इसके विपरीत, त्रैलोक्य के भार को धारण करने वाले आपके द्वारा यह पृथिवी और अधिक भाराक्रान्त की जा रही है। वस्तुतः यहां विरोधाभास अलंकार के द्वारा इसका तात्पर्य यह है कि आपके चरण न्यास से यह

पृथिवी और भी अधिक गौरवशालिनी हो गई है अतः अब आप इसका भार दूर कीजिये।

समास विग्रहादि—अतिशयितः भारः अतिभारः तेन भङ्गुरा ताम्-अतिभारभङ्गुराम्। उदूढं लोकानां त्रितयं येन तेन-उदूढलोकत्रितयेन।

संस्कृत टीका—त्वम्-भवान् श्री कृष्णः। अति भारेण भङ्गुरा ताम् अति भार भाङ्गुराम्-भाराधिक्यभज्यमानाम्, अमूम् पृथिवी मित्यर्थः। लघू करिष्यन्-भाररहितां विधास्यन्, किल-इति प्रसिद्धौ, त्रिदिवात्-स्वर्गात्, अवातरः-अवतीर्णोऽसि। (किन्तु) साम्प्रतम्-इदानीम्, उदूढं लोकानां त्रितयं येन तेन उदूढलोकत्रितयेन=(कुक्षौ) धारित लोकत्रयेण, त्वया-भवता श्री कृष्णेन, धरित्री-पृथिवी, गुरुः—भारवती पूज्या च क्रियते तराम्-अतिशयेन क्रियते।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनिः श्री कृष्णं कथयति—भवान् दुधर्षदानवानां भारातिशयेन भज्यमाना मिमां धरित्रीं भाररहितां करिष्मन् स्वर्गा दवतीर्णोऽस्ति। पर मिदानीं धृतलोकत्रयभारेण भवता धरित्रीयं भाराक्रान्ता अर्थात् पूज्या क्रियते।

व्याकरण—अलघुं लघुं सम्पद्यमानां करिष्यन्, इति विग्रहे अत्र लघु+च्वि+कृ+लृट्+शतृ प्रत्यये—लघू करिष्यन्—अत्र "कृभ्वस्ति" इत्यादिना च्विः 'च्वौ चेति' दीर्घः। अव+तृ+लङ्—अवातरः। भञ्ज्+घुरच्=भङ्गुरा। धृ+इत्र+ङीस्—धारित्री। कृ+लट् कर्मणि यक्—क्रियते। उत्+वह+क्त—उदूढः।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में विरोधाभास अलंकार है, क्योंकि, श्री कृष्ण ने पृथिवी का भार हल्का करने के लिये अवतार लिया था, फिर भी वे तीनों लोकों का भार धारण करने से पृथिवी को और अधिक भारवती बना रहे थे—इस कथन में स्पष्टतः विरोध जैसा आभास होता है, पर 'गुरु' शब्द का अर्थ पूज्य या गौरवान्वित करने से इस विरोध का परिहार हो जाता है।

प्रसंग—नारद जी भगवान् श्री कृष्ण से कहते हैं कि यदि आप भूमि पर अवतार न लेते तो मुझ जैसे लोगों को आपका दर्शन कैसे मिल पाता, क्योंकि आप तो योगिजनों को भी अगोचर हैं।

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहा —
मुपाजिहीथा न महीतलं यदि ।
समाहितै रप्यनिरुपितस्ततः
पदं दृशः स्याः कथमीश ! मादृशाम् ॥३७॥

अन्वय — निजौजसा जगद् द्रुहाम् उज्जासयितुम् महीतलम् न उपाजिहीथाः यदि, ततः समाहितैः अपि अनिरुपितः त्वम् हे ईश ! मादृशाम् दृशः पदम् कथम् स्याः।

शब्दार्थ — निजौजसा = अपने तेज से, जगद् द्रुहाम् = संसार को उत्पीडित करने वाले कंसादि को, उज्जासयितुम् = उखाड़ने के लिये-नष्ट करने के लिये, (त्वम्) महीतलम् = भूतल में, न उपाजिहीथाः यदि = यदि अवतार न लेते ततः = तो, समाहितैः = समाहितचित्तयोगियों द्वारा, अपि-भी, अनिरुपितः = अगृहीत अर्थात् न ग्रहण कियेगये, त्वम् = आप, ईश ! = हे प्रभो, मादृशाम् = मुझ जैसे लोगों की, दृशः = दृष्टि के, पदम् = गोचर, कथं स्याः = कैसे होते ?।

अनुवाद — अपने प्रताप से, संसार को उत्पीडित करने वाले कंसादि को विनष्ट करने के लिये (आप) यदि भूतल पर अवतार न लेते तो समाहित-चित्त योगियों द्वारा भी अगृहीत आप हम जैसे लोगों की दृष्टि के गोचर कैसे होते अर्थात् हम लोग आप के दर्शन कभी नहीं कर पाते ।

भावार्थ — कंसादि लोक द्रोहियों को अपने प्रताप से विनष्ट करने के लिये यदि आप भूतल पर अवतार न लेते तो समाहितात्मा योगियों द्वारा भी अदृष्ट एवं अज्ञात भी आप हम जैसे चर्म चक्षुधारी लोगों को दृष्टिगोचर कैसे होते अर्थात् हम लोग कभी आपका दर्शन न कर पाते अतः आपका अवतार दुष्टों के निग्रह करने के लिये तथा हम लोगों को दर्शन देने के लिये है ।

इससे नारद जी का यह भी तात्पर्य है कि जब आपका अवतार दुष्ट निग्रह के लिये है तो आप इस कार्य को पूरा करें जैसा कि आगे वे स्वयं कहते हैं।

समास विग्रहादि — जगद्भ्यो द्रुह्यन्ति इति जगद् द्रुहः तेषाम् जगद् द्रुहाम् । निजं च यद् ओजः निजौजः तेन निजौजसा । मह्याः तलम् तत् महीतलम् ।

संस्कृत टीका— निजौजसा—स्वकीयतेजसा, जगद् द्रुहाम्=लोक द्वेषिणाम् कंसादीनामित्यर्थः उज्जासयितुम्-विनाशयितुं तान् विनिहन्तु मित्यर्थः, महीतलम्-भूतलम्, न उपाजिहीथाः यदि-न अवतरेः चेत् । ततः--र्तह, समाहितैरपि—समाहितचित्तैः योगिभिरपि, अनिरुपितः-अगृहीतः, त्वम्—भवान्, ईश ! हे विभो ! मादृशां-मत्सदृशानां चर्मचक्षुषाम्, दृशः—दृष्टेः, पदम् गोचरः, कथं स्याः—कथं भवेः न कथमपी त्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थ—कंसादीन् लोकविद्वेषिणः स्वप्रतापेन विनिहन्तुम् भवान् भूतलं नावतरेच्चेत् तर्हि निगृहीतमानसैर्योगिभिर प्यगृहीतो भवान् मत्सदृशानां जनानां दृग्गोचरतां कथ मागच्छेत्, न कथ मपीत्यर्थः । अतो भवद्दर्शनायै वाह मत्रागतः ।

व्याकरण—जगद् द्रुहा मित्यत्र 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप् प्रत्ययः । जासि निग्रहण इत्यादिनात्र कर्मणि षष्ठी उत्पूर्वात् चौरादिक जसु हिंसाया मिति धातोः णिच्+तुमुन्—उज्जासयितुम् । उपपूर्वकात् 'ओहाङ् गतौ' इत्यस्माद्धातोः लङि मध्यमपुरुषैकवचने-उपाजिहीथाः । सम्+आ+धा+क्त तृतीया बहुवचने-समाहितैः अत्र अविवक्षिते कर्मणि, कर्तरि क्त प्रत्ययः । अस् धातो र्लिङि मध्यम पुरुषैक वचने-स्याः ।

प्रसंग—नारद जी कहते हैं कि भगवन् ! दुष्टदमन एवं विश्व पालन का केवल आप में ही सामर्थ्य है, अतः यह कार्य अन्य द्वारा साध्य नहीं है—

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैः,
त्वमेव विश्वम्भर ! विश्व मीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः,
क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥३८॥

अन्वयः—विश्वम्भर ! मदोद्धतैः उपप्लुतम् अदः विश्वम् पातुम् त्वम् एव ईशिषे । क्षपातमस्काण्डमलीमसम् नभः क्षालयितुम् रवेः ऋते कः क्षमेत ।

शब्दार्थ—विश्वम्भर—हे लोक पालक । त्रैलोक्यरक्षक ! मदोद्धतैः=मदोन्मत्त कंसादि के द्वारा, उपप्लुतम्=पीड़ित, अदः विश्वम्=इस जगत् को, पातुम्=रक्षा करने के लिये, त्वमेव=आप भगवान् श्री कृष्ण ही, ईशिषे=समर्थ हो । क्षपातमस्काण्डमलीमसम्=रात्रि के अन्धकार समूह से मलिन,नभः=आकाश को,क्षालयितुम्=धोने के लिये अर्थात् स्वच्छ प्रकाशित

करने के लिये, रवेः ऋते=सूर्य के अतिरिक्त, कः क्षमेत=और कौन समर्थ हो सके (अर्थात् कोई नहीं)।

अनुवाद—हे विश्व रक्षक भगवन् श्रीकृष्ण! मदोन्मत कंस शिशुपालादि के द्वारा पीड़ित इस जगत् की रक्षा करने के लिये केवल आप ही समर्थ हैं, रात्रि के अन्धकार समूह से मलिन आकाश को प्रकाशित करने के लिये सूर्य के अतिरिक्त और कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—नारद जी भगवान् श्री कृष्ण से कहते हैं कि यह संसार मदमत्त कंस शिशुपाल आदि द्वारा पीड़ित हैं, ऐसे इस विश्व की रक्षा करने में केवल आप ही समर्थ हैं और कोई नहीं, जैसे कि घोर अन्धकार से मलिन आकाश को प्रकाशित करने में केवल सूर्य ही समर्थ होता है और कोई नहीं। अतः आप इसकी रक्षा करें।

समास विग्रहादि—विश्वं विभर्ति इति विश्वम्भरः तत्सम्वोधने हे विश्वम्भर!। मदेन उद्धतास्तैः मदोद्धतैः। क्षपायाः तमसः काण्डानि क्षपातमस्काण्डानि तैः मलीमसम् तत् क्षपातमस्काण्डमलीमसम्।

संस्कृत टीका—विश्वम्भर—जगत्पालक प्रभो! मदोद्धतैः—मदोन्मतैः कंसादिभिः—उपप्लुतम्—पीडितम्, अदः विश्वम्—इदं जगत, पातुम्—रक्षितुम्, त्वमेव=भवान् श्रीकृष्ण एव, ईशिषे-समर्थोऽसि। क्षपायाः तमसः काण्डैः मलीमसं तत् क्षपातमस्काण्डमलीमसम् निशान्धकारसमूहमलिनम्, नभः—आकाशम्, क्षालयितुम्—प्रकाशयितुम्, रवेः ऋतेः—सूर्यं विना, कः क्षमेत—कोऽन्यः प्रभवेत्, (न कोऽपीत्यर्थः)।

संस्कृत सरलार्थ—यथा सूर्य एव निशाप्रगाढान्धकारमलिनमाकाशं प्रकाशयितुं प्रभवति नान्यः, तथैव मदोन्मत्तकंसादिभिः पीडितमिदं जगद्रक्षितुं भवानेव केवलं प्रभवति नान्यः कश्चित्, अत एतेषां विनाशेन जगद्रक्षतु भवान्।

व्याकरण—विश्वं विभर्तीति विग्रहे, भृ धातोः खच् मुमागमश्च-विश्वम्भरः, सम्बुद्धौ विश्वम्भर। उपपूर्वकात् प्लुधातोः क्त प्रत्ययः—उपप्लुतम्। ईश ऐश्वर्ये इत्यस्माद्धातोः लट् मध्यमपुरुषैक वचने—ईशिषे। पा+तुमुन्—पातुम्। क्षाल् णिच्+तुमुन्—क्षालयितुम्। 'रवेः ऋते' इत्यत्र 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना रवेरित्यत्र पञ्चमी।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में प्रतिवस्तूपमालंकार है, क्योंकि यहाँ एक ही साधारण धर्म का दो वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा (ईशिषे-क्षमेत) कथन किया गया है।

प्रसंग—नारद जी कहते हैं कि जो आपने कंस आदि राजाओं का वध किया है और उससे जो आपकी प्रशंसा होती है वस्तुतः वह आपका अपमान ही है क्योंकि कंस जैसे तुच्छ राजाओं के वध में, हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष जैसे दैत्यों का वध करने वाले आपकी क्या स्तुति ?

करोति कंसादिमहीभृतां वधा—
ज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम्।
हरे ! हिरण्याक्षपुरस्सरासुर—
द्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ॥३९॥

अन्वय—जनः मृगाणाम् इव कंसादिमहीभृताम् वधात् यत् (तव) स्तवम् करोति, सा, हे हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः तव प्रत्युत तिरस्क्रिया (भवति)।

शब्दार्थ—जनः=लोक, मृगाणाम् इव=हरिणों की तरह, कंसादिमहीभृताम्=कंस आदि राजाओं के, वधात्=मारने से, जो (तुम्हारी) स्तवम्-स्तुति, करोति=करता है, हरे=हे श्रीकृष्ण ! और सिंह ! सा=वह स्तुति तो, हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः=हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु आदि असुर रूप गजों के शत्रु (मारने वाले) तव=तुम्हारी, प्रत्युत=इसके विपरीत, तिरस्क्रिया=तिरस्कार या अपमान (होता है)।

अनुवाद—लोक, हरिणों की तरह कंसादि राजाओं के वध से जो तुम्हारी स्तुति करता है हे हरे=श्रीकृष्ण ! वह स्तुति तो हिरण्याक्षादि असुर रूपी गजों के हन्ता तुम्हारी इसके विपरीत, तिरस्क्रिया अर्थात् अपमान ही है।

भावार्थ—नारद जी कहते हैं कि आज जो कंस आदि राजाओं के वध के कारण लोग तुम्हारी स्तुति करते हैं, वास्तव में यह तुम्हारी, स्तुति, नहीं अपि तु निन्दा है, क्योंकि हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु जैसे प्रवल दैत्यों का जब आप वध कर चुके हैं तो कंसादि दुर्बल राजाओं का वध तो आपके लिये वैसा ही तुच्छ कार्य है जैसा कि गजेन्द्रहन्ता सिंह के लिये मृगों का वध

करना, अतः आपको इस स्तुति से ही सन्तुष्ट न हो जाना चाहिये अपितु और भी प्रबल दैत्यों का वध करना चाहिये।

समास विग्रहादि—कंसः आदि येषान्ते कंसादयः ते च ते महीभृतः कंसादिमहीभृतस्तेषां कंसादिमहीभृनाम्। हिरण्याक्ष एव पुरःसरो येषान्ते हिरण्याक्षपुरःसराः ते च ते असुराः हिरण्याक्षपुरःसरासुराः, ते एव द्विपाः इति हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपाः तेषां द्विट् तस्य हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः।

संस्कृत टीका—जनः-लोकः, मृगाणाम् हरिणानाम्, इव, कंसादयश्च ते महीभृतस्तेषां कंसादिमहीभृतां कंसादिनृपाणम् वधात्–हननात, यत् (तव) स्तवम्=स्तुतिम् करोति-विदधाति। हरे-हे विष्णो-श्रीकृष्ण! हे मृगेन्द्र! सा स्तुतिः, हिरण्याक्ष एव पुरःसरो येषान्ते हिरण्याक्षपुरःसराः ते च ते असुराः हिरण्याक्षपुरःसरासुराः ते एव द्विपाः तेषां द्विट् तस्य हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः—हिरण्याक्षादिदैत्यगजशत्रोः तव श्रीकृष्णस्य, प्रत्युत-वैपरीत्येन, तिरस्क्रिया तिरस्कारः अपमानो वेति।

संस्कृत सरलार्थ—यथा गजेन्द्रवधकर्तुः सिंहस्य मृगादिक्षुद्रजन्तुवधात् स्तुतिः क्रियेत चेत् तर्हि तस्यापमान एव भवति तथैव हिरण्याक्षादिप्रबलासुरहन्तुस्तव क्षुद्रकंसादिवधात् यदि लोके स्तुति र्भवति सा तव वस्तुतः तिरस्क्रियैव न तु स्तुतिः। अतस्त्वयानया स्तुत्या सन्तुष्टेन न भवितव्यम् अपितु प्रबलान्यशिशुपालादिवधाय प्रयत्नो विधेयः।

व्याकरण—मही+भृ+क्विप् तुगागम, महीभृत्, षष्ठी बहुवचने—महीभृताम्। स्तु+अप्—स्तवः। द्वि+पा+क—द्विपः।

विशेष—"मृगाणामिव कंसादिमहीभृताम्" यहाँ उपमालंकार है। 'हरिः एव हरिः' तत्सम्बोधने हे हरे! अर्थात् श्रीकृष्ण रूपी सिंह–यह श्लिष्ट रूपक है, इसी पर असुरद्विप-असुर रूपी हाथी—यह रूपक भी आधारित है अतः यहाँ श्लिष्ट परम्परित रूपक है। यह रूपक भी उक्त उपमा पर आधारित है अतः यहाँ उपमा और इस रूपक में अङ्गाङ्गीभाव संकर है।

प्रसंग—नारद जी भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं कि यद्यपि आप स्वयं लोक शत्रुओं का वध करने में प्रवृत्त हैं, तथापि वाचालतावश में आप से इसी सम्बन्ध में और कुछ कहना चाहता हूँ

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः,
क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां,
मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥४०॥

अन्वय—उज्झितश्रमः (सन् त्वम्) क्रमेण भुवनद्विषाम् पेष्टुम् स्वयमेव प्रवृत्तः असि। तथापि मिथः त्वदाभाषणलोलुपम् मनः माम् वाचालतया युनक्ति।

शब्दार्थ—उज्झितश्रमः=श्रमरहित होकर अर्थात् थकावट का अनुभव न करते हुये (आप) क्रमेण=क्रम-क्रम से, भुवनद्विषाम्=लोक के शत्रुओं को, पेष्टुम्=पीसने के लिये अर्थात् उनका वध करने के लिये, स्वयम्=अपने आप ही, अर्थात् विना किसी अन्य व्यक्ति की प्रेरणा से, प्रवृत्तः असि=संलग्न हैं। तथापि-तो भी, यद्यपि आप स्वयं प्रवृत्त हैं तथापि, मिथः=एकान्त में, त्वदाभाषणलोलुपम्=आपके साथ बात चीत करने मे लालायित, मनः=मन, माम्=मुझ नारद को। वाचालतया युनक्ति=वाचालता से युक्त करता है अर्थात् अधिक कहने के लिये वाचाल वना रहा है।

अनुवाद—थकावट का अनुभव न करते हुये अर्थात् श्रम रहित होकर (आप) क्रम-क्रम से, लोक शत्रुओं अर्थात् दुष्ट जनों को कुचल डालने के लिये, स्वयं ही अर्थात् विना किसी अन्य की प्रेरणा से संलग्न हैं, तो भी अर्थात् आपके स्वयं संलग्न होते हुये भी, परस्पर एकान्त में आपके साथ वार्तालाप करने के लिये लालायित (मेरा) मन मुझे वाचालता से युक्त कर रहा है अर्थात् मुझे वाचाल वना रहा है।

भावार्थ—नारद जी भगवान् श्री कृष्ण से कहते हैं कि यद्यपि आप स्वयं ही लोक शत्रुओं कमादि का विनाश करने में तत्पर हैं और इस लोको पकारक कार्य में आप खेद या थकावट का भी अनुभव नहीं करते अतः यद्यपि मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है तथापि आप से पारस्परिक वार्तालाप के लिये लालायित हुआ मेरा मन मुझे वाचाल वना रहा है अर्थात् फिर भी कुछ और इसी सम्बन्ध में कहने के लिये विवश कर रहा है।

समास विग्रहादि—उज्झितः श्रमः येन स उज्झितश्रमः, भुवनानि

द्विषन्ति ये ते भुवनद्विषः तेषाम् भुवनद्विषाम् । त्वया सह आभाषणे लोलुपम् तत् त्वदाभाषणलोलुपम् ।

संस्कृत टीका–(त्वम्-भगवान् श्री कृष्णः) उज्झितः श्रमः येनासौ उज्झित-श्रमः=परित्यक्तश्रमः (सन्) क्रमेण-क्रमशः, भुवनद्विषाम्-लोकरिपूणां दुष्टानां पेष्टुम्-विनाशयितुम् तान् हिंसितु मित्यर्थः । स्वयमेव-स्वत एव-अपरप्रेरितः एव, प्रवृत्तः—तत्परः असि । तथापि-स्वयं प्रवृत्तेऽपि, मिथः–एकान्ते, त्वया सह आभाषणे लोलुपम् तत् त्वदाभाषणलोलुपम्-त्वद्वार्तालापप्रलुब्धम्, मनः—मे मनः, माम् नारद मित्यर्थः, वाचालतया सह युनक्ति-वाचल विदधाति ।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनि भंगवन्त श्री कृष्णं कथयति यत्-यद्यपि भवान् विनैव परप्रेरणया दुष्टानां वधाय अखिन्नो भूत्वा तत्परोऽस्ति अतो नास्ति मम वचनावसरः, तथापि त्वया सह रहसि वार्तालापाय प्रलुब्धं मे मनः मामेतद्विषये वाचालं करोति, अतोऽहमत्र किञ्चिदभिधास्ये तत्त्वया श्रवणीयमिति ।

व्याकरण—भुवनद्विषां पेष्टुमित्यत्र "जासि निप्रहण" इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । भुवन+द्विष्+क्विप् भुवनद्विट् षष्ठीबहुवचने भुवनद्विषाम् । पिष् धातो स्तुमुन–पेष्टुम् । प्र+वृत+क्त=प्रवृत्तः । बह्व्यः वाचोऽस्य सन्तीति विग्रहे "आलजाचटौ बहुभाषिणि' इति वाच् शब्दात् आलच्=वाचालः तस्य भावः इति विग्रहे तल् प्रत्यये वाचालता तया वाचालतया । युज् धातो र्लटि प्रथमपुरुषैकवचने—युनक्ति । आ+भास्+ल्युट्–आभाषणम् ।

प्रसंग—नारद जी कहते हैं कि लोक हितकारी कार्यों में व्यस्त रहते हुये भी आप इन्द्र सन्देश को सुनने की कृपा करें—

तदिन्द्रसन्दिष्ट मुपेन्द्र ! यद्वचः,
क्षणं मया विश्वजनीन मुच्यते ।
समस्त कार्येषु गतेन धुर्यता—
महिद्विषस्तद् भवता निशम्यताम् ॥४१॥

अन्वय– तत् उपेन्द्र! इन्द्रसन्दिष्टम् विश्वजनीनम् यद् वचः क्षणम् मया उच्यते, तत् अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यतां गतेन भवता निशम्यताम् ।

शब्दार्थ—तत्=इस कारण से, उपेन्द्र=हे इन्द्र के अनुज अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण ! इन्द्रसन्दिष्टम्—इन्द्र के द्वारा बतलाया गया, विश्वजनीनम् =सर्वलोकहितकारी, यद् वचः=जो वचन, क्षणम्=क्षणमात्र में, मया उच्यते=मेरे द्वारा कहा जा रहा है, तत्=वह, अहिद्विपः=इन्द्र के, समस्तकार्येषु=सभी कामों में, धुर्यताम् गतेन=कार्य वाहकता को प्राप्त अर्थात् इन्द्र के समस्त कार्य भार का वहन करने वाले, भवता=आप के द्वारा, निशम्यताम्=सुना जाय अर्थात् उसे आप सुनें।

अनुवाद—इस कारण हे इन्द्रानुज भगवन् श्रीकृष्ण ! इन्द्र के द्वारा कथित लोक हितकारी जो वचन क्षणमात्र में मेरे द्वारा कहा जा रहा है, उसे इन्द्र के समस्त कार्यों में भार वाहकता को प्राप्त आप सुनें।

भावार्थ—नारद जी कहते हैं कि इन्द्र ने, आपके लिये, एक लोकोपकारक सन्देश कहलाया है जिसे मैं अभी आपको बताने जा रहा हूँ. उसे आप सुनें।

समास विग्रहादि—इन्द्रम् उपगतः उपेन्द्रः, तत्सम्बुद्धौ हे उपेन्द्र ! विश्वस्मै जनाय हितं विश्वजनीनम्। समस्तानि च तानि कार्याणि तेषु समस्तकार्येषु, धुरं वहति इति धुर्यः तस्य भावः ताम् धुर्यताम्। अहिम् द्वेष्टि अहिद्विट् तस्य अहिद्विपः।

संस्कृत टीका—तत्—तस्मात् कारणात्, उपेन्द्र—हे इन्द्रानुज श्रीकृष्ण ? इन्द्रसन्दिष्टम्—महेन्द्रोदाहृतम्, विश्व जनीनम्-सर्वलोकहितकरम्, यद् वचः= यद् वचनम्, क्षणम्-किञ्चित्कालम् मया—नारदेन उच्यते-कथ्यते, तत् तद्वचनम्, अहिद्विषः-वृत्रघ्नः इन्द्रस्य, समस्तकार्येषु-सर्वकर्मसु, धुर्यताम्-धुरन्धरत्वम्, गतेन-प्राप्तेन, 'भवता-त्वया श्रीकृष्णेन, निशम्यताम् श्रूयताम्।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनि र्भगवन्तं श्रीकृष्णं कथयति, यद्भवान् इन्द्रस्यैव सर्वकार्यसाधनतत्परोऽस्ति यद्यपि, तथापि अधुना इन्द्रेणोक्तम् सर्वलोकहितसाधक मिदं मद्वचस्त्वया श्रूयताम्। अर्थात् इन्द्रस्यै वेदं कार्यम्, यदर्थं महमत्रागतः, अथ चेदं कार्यं सर्वलोकहितकर मप्यस्ति अतस्त्वया एतदर्थं मवश्य मेव प्रयतितव्यम्।

व्याकरण—विश्वस्मै जनाय हितमिति विग्रहे विश्वजनशदात् "आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' इति ख प्रत्ययः, खस्य ईनादेशः—विश्वजनी-

नभ्। अहि शब्दस्य वृत्रासुर इत्यत्यर्थः-अहि+द्विष्+क्विप् अहिद्विट् (वृत्रहा) पष्ठ्येकवचने–अहिद्विपः (वृत्रघ्नः)। धुरं वहतीति विग्रहे धुरशब्दात् "धुरो यड्ढकौ" इति यत् प्रत्यये—धुर्यः, ततः तल् प्रत्ययः, तलन्तं स्त्रियाम्, द्वितीयैकवचने धुर्यताम्। नि+शम्+यक् लोट् प्रथम पुरुषैकवचने–निशम्यताम् अत्र प्रार्थनायां लोट् लकारः।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है, क्योंकि यहाँ कृष्ण द्वारा सन्देश श्रवण में नारद के वचन का विश्वजनीन होना एवं इन्द्रसन्दिष्ट होना ही हेतु है।

प्रसंग—शिशुपाल के वध की आवश्यकता का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से नारद जी, पहले उसके पूर्व जन्म के दुष्कृत्यों की ओर भगवान् का ध्यान आकृष्ट करते हुये कहते हैं—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां
भियां तनूजस्तपनद्युति दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरे-
हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥४२॥

अन्वय—प्रतिपक्षजन्मनाम् भियाम् अभूमिः (एवम्भूतः एकः) तपनद्युतिः दितेः तनूजः अभूत्। हरेः इन्द्रशब्दार्थनिपूदनम् यम् हिरण्यपूर्वम् कशिपुम् प्रचक्षते।

शब्दार्थ—प्रतिपक्षजन्मनाम्=शत्रुओं से उत्पन्न अर्थात् शत्रुओं से आने वाले, भियाम्=भयों का, अभूमिः-अविषय अर्थात् निर्भीक=जिसे शत्रुओं से कभी भय होता ही नहीं था। (ऐसा एक) तपनद्युतिः=सूर्य के समान कान्तिशाली अर्थात् प्रचण्ड तेजस्वी, दितेः तनूजः=दिति का पुत्र अर्थात् दैत्य, अभूत्=हुआ। हरेः=इन्द्र के, इन्द्रशब्दार्थनिपूदनम्=('इन्द्र' इस शब्द या संज्ञापद का अर्थ है परमैश्वर्य। निपूदन का अर्थ है विनाशक)=अतः इसका अर्थ है—परमैश्वर्य विनाशक, यं हिरण्यपूर्वं कशिपुम्=जिसे हिरण्यशब्द जिसके पूर्व में है, ऐसा 'कशिपु' अर्थात् 'हिरण्यकशिपु' प्रचक्षते=कहते हैं अर्थात् लोग उसे 'हिरण्यकशिपु' कहते हैं।

अनुवाद—शत्रुओं से उत्पन्न होने वाले, भयों का अविषय अर्थात् जिसे शत्रुओं से कहीं कभी भी भय न होता था (ऐसा एक) सूर्य के समान तेजस्वी

दिति का पुत्र अर्थात् दैत्य हुआ था, इन्द्र के इन्द्रशब्दार्थ अर्थात् परमैश्वर्य के विनाशक जिसे (लोग) हिरण्यपूर्व कशिपु अर्थात् हिरण्यकशिपु कहते हैं।

भावार्थ—नारद जी कहते हैं कि पूर्वकाल में एक ऐसा दैत्य हुआ था जिसे शत्रुओं से कभी भय न होता था और जो सूर्य के समान तेजस्वी तथा इन्द्र के परमैश्वर्य का विघातक था, इस दैत्य को लोग हिरण्यकशिपु कहते हैं।

समास विग्रहादि—प्रतिकूल: पक्षो येषान्ते प्रतिपक्षा: तेभ्य: जन्म यासां ताः प्रतिपक्षजन्मान: तासाम् प्रतिपक्षजन्मनाम्। न भूमि: अभूमि:। इन्द्रशब्दस्यार्थः इन्द्रशब्दार्थ: तस्य निषूदनं तम् इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्। हिरण्यं पूर्वं यस्य तम् हिरण्यपूर्वम्। तपनस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्यासौ तपनद्युतिः।

संस्कृत टीका—प्रतिपक्षेभ्यो जन्म यासां ताः तासाम् प्रतिपक्षजन्मनाम्, शत्रुजनसमुद्गतानाम् शत्रुपक्षादागतानामित्यर्थः, भियाम्—भीतीनाम, अभूमि:—अविषयः, शत्रुपक्षागतभीत्यविषयो निर्भयो वेत्यर्थः। (ईदृश: एक:) तपनद्युति:—आदित्यसमप्रभः, दितेः तनूजः–दितिपुत्र: दैत्य इत्यर्थः, अभूत्—अभवत्। हरेः—इन्द्रस्य, इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्—इन्द्रेतिपदस्य योऽर्थ: परमैश्वर्याभिधान: तस्य निषूदनम् विहिंसकम् अर्थात् परमैश्वर्यविघातकम् यम् हिरण्यपूर्वम् कशिपुम्—हिरण्येतिशब्दपूर्वकं कशिपुमिति—हिरण्यकशिपुमित्यर्थः प्रचक्षते कथयन्ति—लोका इति शेषः।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनि राह यत्पुरा एक एतादृशो दैत्यो बभूव य: सर्वविधशत्रुपक्षागतभयविरहित: अथ च सूर्यसमप्रभः आसीत्, इन्द्रस्यापि परमैश्वर्यविघातकं तं दैत्यं जना हिरण्यकशिपुं निगदन्ति। अर्थात् दैत्योऽसौ हिरण्यकशिपुनाम्ना विख्यात आसीत्।

व्याकरण—भूधातो लुङि प्रथमपुरुषैकवचने-अभूत्। भी+क्विप्—षष्ठी बहुवचने=भियाम्। तनू+जन्+ड=तनूजः। इदि धातोः नुमि औणादिकः रन् प्रत्ययः—इन्द्रः, इदि धातुः परमैश्वर्येऽर्थे वर्तते अतः इन्द्रेतिशब्दस्यार्थः परमैश्वर्यलक्षणः। निषूदनमित्यत्र कर्तरि ल्युट् (अन)। प्र+चक्ष् लटि प्रथम पुरुषबहुवचने प्रचक्षते।

प्रसंग—उस हिरण्यकशिपु ने सब से पहले देवताओं के हृदय में भी भय उत्पन्न कर दिया था, इसी बात को नारद जी बतला रहे हैं—

समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा,
चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना,
मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ।।४३।।

अन्वय—समत्सरेण असुरः इति नाम्नः चिराय प्रथमाभिधेयताम् उपेयुषा तरस्विना येन द्युसदाम् मनस्सु भयस्य पूर्वावतरः न्यधीयत ।

शब्दार्थ—समत्सरेण =दूसरों के कल्याण अथवा अभ्युदय से द्वेष करने वाला, असुर इति नाम्नः=असुर इस नाम की, चिराय=चिर काल से, प्रथमाभिधेयताम् उपेयुषा=सर्व प्रथम मुख्यार्थता को, प्राप्त हुये, तरस्विना= वलवान, येन =जिस हिरण्यकशिपु के द्वारा, द्युसदाम्=देवताओं के, मनस्सु= मनों में, भयस्य=भय का, पूर्वावतरः=प्रथम प्रवेश, न्यधीयत=करा दिया गया ।

अनुवाद—अन्य जनों के अभ्युदय का द्वेषी, असुर इस नाम की चिर काल से सर्व प्रथम मुख्यार्थता को या वाच्यता को प्राप्त हुये, (तथा) वलवान् जिस हिरण्यकशिपु के द्वारा देवताओं के मनों में भय का प्रथम प्रवेश करा दिया गया ।

भावार्थ—नारद जी कहते हैं कि जगद् द्रोही वह हिरण्यकशिपु अपने नाम के अनुसार सच्चे अर्थ में असुर हुआ, इस वलवान् असुर के द्वारा देवताओं के मनों में सर्व प्रथम भय का प्रवेश करा दिया गया ।

तात्पर्य यह है कि हिरण्यकशिपु दैत्य के उत्पन्न होने से पूर्व तक देवता सदा निश्चिन्त रहते थे उन्हें कोई भय या चिन्ता नहीं रहती थी । इस दैत्य ने ही उत्पन्न होकर सर्व प्रथम देवताओं के मन में भी भय उत्पन्न करा दिया, क्योंकि वह वड़ा वलवान् तथा दूसरों के शुभ या अभ्युदय से द्वेष करने वाला था । हिरण्यकशिपु के उत्पन्न होने से पूर्व तक 'असुर' शब्द का प्रयोग अच्छे शक्तिशाली व्यक्ति के लिये होता था, अर्थात् शक्तिवान् को ही असुर कहा जाता था जो कि अपनी शक्ति से दूसरों की रक्षा करने में समर्थ होता था । हिरण्यकशिपु ने उत्पन्न होकर सर्व प्रथम इस असुर शब्द की मुख्यार्थता को, धारण किया था (असुर शब्द का वाच्यार्थ है—अस्यतीति असुरः अर्थात् फेंकने वाला या पीड़ा पहुँचाने वाला) इस प्रकार के वाच्यार्थ के वाचक असुर

नाम को हिरण्यकशिपु ने ही सर्व प्रथम धारण किया था अर्थात् यही इस अर्थ में सबसे पहला असुर हुआ था अतएव इसने देवताओं को भी भयभीत कर रखा था।

समास विग्रहादि—अभिधेयस्य भावः अभिधेयता प्रथमा ः। अभिधेयता ताम् प्रथमाभिधेयताम्। मत्सरेण सहितः समत्सरस्तेन समत्सरेण। दिवि सीदन्ति द्युसदः तेषां द्युसदाम्।

संस्कृत टीका—समत्सरेण—अन्याभ्युदयद्वेषिणा, असुर इति नाम्नः= असुर इत्यभिधानस्य, चिराय-चिरेण, प्रथमाभिधेयताम्-अन्वर्थतया मुख्यार्थताम् उपेयुषा—प्राप्तवता, तरस्विना-बलवता, येन-हिरण्यकशिपुना, द्युसदाम्-देवानाम्, मनः सु=चित्तेषु, भयस्य-भीतेः, पूर्वावतरः-प्रथमः प्रवेशः, न्यधीयत निहितः।

संस्कृत सरलार्थ—जगद् द्रोहिणा असुर पदस्य मुख्याभिधानवता शक्तिमता येन दैत्येन देवमनःसु भयस्य प्रथमः प्रवेशः कारितः स हिरण्यकशिपु नाम्ना असुरो बभूव।

व्याकरण—अस्यति क्षिपति देवानसौ असुरः अस् क्षेपणे धातोरुरन् प्रत्ययः। तरस् + विनि-तरस्वी तृतीयैक वचने तरस्विना। दिवि + सद् + क्विप्—षष्ठी बहुवचने—द्युसदाम्। अव + तृ धातोः 'ऋदोरप्' इति अप् प्रत्ययः—अवतरः। नि + धा + कर्मणि यक् लङ् लकार प्रथम पुरुषैक वचने-न्यधीयत।

प्रसंग—हिरण्यकशिपु द्वारा दिग्पालों पर विजय का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरा—
नपास्य तं रागहृताः सिषेविरे।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति,
प्रवाद मुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥४४॥

अन्वय—श्रियः, यतः दिशाम् अधीशान् चतुरः सुरान् अपास्य तं रागहृताः (सत्यः) सिषेविरे, ततः आरभ्य अयशस्करम् चला इति उच्चैः प्रवादम् अवापुः।

शब्दार्थ—श्रियः=राजलक्ष्मी अथवा सम्पत्तियों ने, यतः=जब से, दिशा मधीशान्=दिशाओं के स्वामियों-दिग्पाल, चतुरः देवान्=चार देवताओं

(इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर) को छोड़कर; रागहृताः=(हिरण्यकशिपु के) अनुराग से आकृष्ट होकर (क्योंकि लक्ष्मी वीर प्रिया होतीं है) तम् सिषेविरे= उसकी सेवा की ततः आरभ्य=तब से लेकर, अयशस्करम् =अकीर्तिकर, चला इति=चञ्चला अर्थात् लक्ष्मी चञ्चला होतीं हैं, इस, उच्चैः प्रवादम्= बड़े अपवाद-लोक निन्दा को, अवापुः=प्राप्त किया।

अनुवाद—राजलक्ष्मियों अर्थात् सम्पत्तियों ने जब से, दिशाओं के अधीश्वरों अर्थात् दिग्पाल चार (इन्द्र, वरुण, यम कुबेर) देवताओं को त्याग कर (हिरण्यकशिपु के) अनुराग से आकृष्ट होकर उसकी सेवा की, उसी समय से लेकर अकीर्तिकर 'चञ्चला' इस बड़ी लोकनिन्दा को प्राप्त किया।

भावार्थ—वीरभोग्या लक्ष्मीः अथवा वीरप्रियाः श्रियः' इस उक्ति के अनुसार लक्ष्मी वीरप्रिया या वीरभोग्या होती है अतः जब से राजलक्ष्मियोंने चार दिग्पालों को छोड़कर हिरण्यकशिपु की सेवा की तभी से इन्होंने दुष्कीर्तिकर चञ्चला यह लोक निन्दा प्राप्त की, अर्थात् देवों को छोड़ कर हिरण्यकशिपु के पास जाने के कारण लक्ष्मी को चञ्चला कह कर लोग उसकी निन्दा करने लगे हैं।

समास विग्रहादि—रागेण हृताः रागहृताः। अयशः करोति इति अयशस्करः तम् अयशस्करम्।

संस्कृत टीका – श्रियः-राजलक्ष्म्यः सम्पदो वा, यतः-यदेत्यर्थः, दिशाम्-पूर्वादिदिशाम्, अधीशान्-स्वामिनः दिग्पालानित्यर्थः, चतुरः सुरान्-इन्द्र वरुणयमकुबेरान् चतुरो देवान्, अपास्य-परित्यज्य, तम्-हिरण्यकशिपुम्, रागहृताः-तदनुरागाकृष्टाः (सत्यः) सिषेविरे-सेवयामासुः, ततः आरभ्य-तदा प्रभृति, अयशस्करम्-अकीर्तिकरम्, चलाः-चञ्चलाः इति उच्चैः प्रवादम्-प्रचुरजनापवादम्, अवापुः-प्रापुः।

संस्कृत सरलार्थ—यतो हि वीरप्रियाः लक्ष्म्यो भवन्ति अतः यदा ताः चतुरः दिग्पालान् विहाय, तस्य वीरभावाकृष्टाः तं सेवयामासुः तद्दिनादारभ्य ताः अकीर्तिकरं चञ्चला इति प्रचुरलोकापवादमापुः।

व्याकरण—आ+रभ+क्त्वा-ल्यप्=आरभ्य। अयशस्+कृ धातोः 'कृञोहेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति ट प्रत्ययः। "अतः कृकमीत्या"-दिना विसर्जनीयस्य सत्वम्=अयशस्करम्। अप+आस+क्त्वा-ल्यप्=अपास्य।

सिवुधातोः लिटि प्रथम पुरुष वहुवचने = सिषेविरे । प्र + वद + घञ् = प्रवादः । अव + आप् + लिट् प्रथमपुरुषवहुवचने = अवापुः ।

प्रसंग — हिरण्यकशिपु के भय से आत्मरक्षार्थ देवताओं ने दुर्ग आदि का निर्माण किया, इसी बात को प्रस्तुत श्लोक में वताया जा रहा है—

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं,
बलानि शूराणि, घनाश्च कञ्चुकाः ।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां,
गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ।। ४५ ।।

अन्वय— नाकिनाम् गणैः यम् आशङ्क्य तदादि स्वरूपशोभैकफलानि पुराणि दुर्गाणि चक्रिरे, आयुधम् निशातम् (चक्रे) बलानि शूराणि (चक्रिरे) कञ्चुकाः च घनाः चक्रिरे ।

शब्दार्थ—नाकिनाम् गणैः = देवों के समूहों द्वारा । यम् आशङ्क्य = जिस हिरण्यकशिपु की आशंका करके । तदादि = उसी समय से । स्वरूप-शोभैक फलानि = स्वरूप शोभा ही जिनका एक मात्र प्रयोजन था अर्थात् स्वरूप शोभा मात्र प्रयोजन वाले । पुराणि = नगरों को । दुर्गाणि चक्रिरे = (प्राकार परिखा आदि से) अगम्य बना दिया । आयुधम् निशातं चक्रे = शस्त्रास्त्रों को तेज बना लिया । बलानि शूराणि चक्रिरे = सेनाओं को शूर वीर बना लिया । कञ्चुकाः च घनाः चक्रिरे = और कवचों को दुर्भेद्य कठोर बना लिया ।

अनुवाद—देवगणों ने जिस हिरण्यकशिपु की आशंका करके, उसी समय से, स्वरूप शोभा मात्र प्रयोजन वाले नगरों को (प्राकार परिखा आदि से) अगम्य, अस्त्रों को तेज, सेनाओं को बलवान्, और कवचों को दुर्भेद्य बना लिया ।

भावार्थ—हिरण्यकशिपु के उत्पन्न होने से पूर्व देवताओं को किसी से भय न था अतएव उनके नगर शोभा मात्र के लिये थे, अर्थात् वाह्य शोभा मात्र के लिये थे । किन्तु अब हिरण्यकशिपु के भय से उन्होंने नगरों को अगम्य बना लिया था और शस्त्रास्त्रों को तेज, सेनाओं को शक्तिशाली और कवचों को कठोर तथा दुर्भेद्य बना लिया था ।

समास विग्रहादि--स्वरूपस्य शोभा स्वरूपशोभा सा एव एकं फलं येषान्तानि स्वरूपशोभैकफलानि । स आदि र्यस्मिंस्तत् तदादि यथा स्यात्तथा (क्रिया विशेषण) नाकः अस्ति एषान्ते नाकिन स्तेषाम् नाकिनाम् ।

संस्कृत टीका—नाकिनाम्-स्वर्गिणाम् देवानाम्, गणैः-समूहैः, यम्-हिरण्यकशिपुम्, आशङ्क्य-भयदेन घातकत्वेन वा उत्प्रेक्ष्य, तदादि-ततः प्रभृति, स्वरूपशोभा एवं एकं फलं येषान्तानि स्वरूपशोभैकफलानि-शोभा-मात्रप्रयोजनानि, पुराणि-नगराणि, दुर्गाणि-प्राकारादिभिरगम्यानि, चक्रिरे-कृतानि, आयुधम्-शस्त्रम्, निशातम्-तीक्ष्णम् (चक्रे) बलानि-सैन्यानि, शूराणि--वीराणि (चक्रिरे) कञ्चुकाः--कवचाः, घनाः--सुदृढाः दुर्भेद्याः (चक्रिरे) ।

संस्कृत सरलार्थ—स्वर्गस्था देवा भयावहस्य हिरण्यकशिपोः आक्रमणा-शंकया आत्मरक्षार्थं स्वकीयानि नगराणि यान्यद्यावधि रूपशोभामात्रप्रयो-जनान्यासन्, प्राकारादिरक्षासाधनैरगम्यानि कृतवन्तः । शस्त्राणि च तीक्ष्णानि चक्रुः एवं सैन्यानि च शौर्यवन्ति कृतवन्तः अथ च भयत्रस्तैस्तै र्देवैः स्वकीयाः कवचाश्च सुदुर्भेद्याः कृताः । हिरण्यकशिपुत्रासाद् देवेषु महद्भय मुत्पन्न मित्यर्थः ।

व्याकरण--कः=सुखम्, न कः अकः दुःखम् नास्ति अकं यत्र स नाकः, स एषामस्ति इति नाकिनः (नाक+इन्) तेषां नाकिनाम् । आ+शङ्क +क्त्वा-ल्यप्=आशङ्क्य । दुःखेन गम्यते यत्र तत् दुर्गम्-बहुवचने= दुर्गाणि—दुर्+गम् धातोः 'सुदुरोरधिकरणे' इति उ प्रत्ययः । शो तनूकरणे इत्य स्माद्धातोः क्त प्रत्यये 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' इति इत्वविकल्पात् पक्षे-आत्वम् । कृ धातो र्लिटि प्रथमपुरुषबहुवचने आत्मने पदे-चक्रिरे ।

प्रसंग--भयत्रस्त देवता भी हिरण्यकशिपु को नमस्कार करते थे, इस बात का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया जा रहा है—

स सञ्चरिष्णु र्भुवनान्तरेषु यां,
यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः ।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्—
करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशै र्दिशे नमः ॥ ४६ ॥

अन्वय—भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णु: श्रिय: आश्रय: स यदृच्छया यां (दिशम्) अशिश्रियत्, मुकुटोपलस्खलत् करै: त्रिदशैः त्रिसन्ध्यम् तस्यै दिशे नमः अकारि।

शब्दार्थ—भुवनान्तरेषु=अन्य लोकों में। सञ्चरिष्णु:=भ्रमणशील घूमने फिरने वाला। श्रिय: आश्रय:=राजलक्ष्मी का आश्रय अर्थात् राजलक्ष्मी सम्पन्न। स:=वह हिरण्यकशिपु। यदृच्छया=स्वेच्छा से (यां दिशम्) जिस दिशा में। अशिश्रियत्=आश्रय लेता था अर्थात् जाता था या ठहरता था। मुकुटोपलस्खलत्करैः=मुकुटों के रत्नों पर सकम्प पड़ते हुए हाथों वाले अर्थात् अपने मुकुट रत्नों पर काँपते हुए हाथों को रखकर अथवा शिर पर सकम्प हाथों को जोड़कर। त्रिदशैः=देवताओं के द्वारा। त्रिसन्ध्यम् =तीनों ही संध्याओं में। तस्यै दिशे=उस (ही) दिशा को। नम:= नमस्कार। अकारि=किया जाता था।

अनुवाद—अन्य लोकों में (या लोकों के बीच) भ्रमणशील, राजलक्ष्मी का आश्रय अर्थात् राजलक्ष्मी सम्पन्न वह हिरण्यकशिपु स्वेच्छा से जिस दिशा में जाता या ठहरता था, मुकुटों के रत्नों पर सकम्प पड़ते हुए हाथों वाले देवों के द्वारा तीनों ही सन्ध्याओं में उस (ही) दिशा को नमस्कार किया जाता था।

भावार्थ—हिरण्यकशिपु अन्य लोकों में घूमने के लिये जब कभी स्वेच्छा से जिस किसी भी दिशा को चला जाता था, यत: वह राजलक्ष्मी सम्पन्न ऐश्वर्यशाली एवं शक्तिशाली था और देवता उससे भयभीत थे, अत वे देवता तीनों ही कालों में, अपने रत्नजटित मुकुटों पर काँपते हुए हाथों को रखकर अर्थात् शिर से हाथ जोड़कर उस ही दिशा को नमस्कार करते थे। प्रात: मध्याह्न एवं सायङ्कालिक संध्याओं के समय संध्योपासन करते समय क्रमश: पूर्व उत्तर और पश्चिम दिशाओं की ओर मुख करके बैठने का नियम है पर देवता लोग उससे इतने भयभीत थे कि वह जिस दिशा में होता था, वे संध्याकालिक दिशा नियम को भी छोड़कर उसी दिशा को नमस्कार करते थे, नमस्कार करते समय जब वे हाथ जोड़कर शिर पर लगाते थे तो भय के कारण उनके हाथ काँपने लगते थे अर्थात् लड़खड़ा जाते थे। हिरण्यकशिपु का सर्वत्र इतना आतङ्क व्याप्त था।

समास विग्रहादि—अन्यानि भुवनानि भुवनान्तराणि तेषु भुवनान्तरेषु अथवा भुवनाना मन्तराणि तेषु भुवनान्तरेषु। मुकुटेषु उपलाः मुकुटोपलाः (उपल = रत्नमणि) तेषु स्खलन्तः करा येषान्ते तैः मुकुटोपलस्खलत्करैः। त्रिस्रः दशाः बाल्यकौमारयौवनानि अथवा जन्मसत्तावृद्धयः येषान्ते तैः त्रिदशैः। तिसृणां सन्ध्यानां समाहारः त्रिसन्ध्यम्।

संस्कृत टीका—भुवनान्तरेषु–अन्य लोकेषु, सञ्चरिष्णुः–भ्रमणशीलः, श्रियः-राजलक्ष्म्याः, आश्रयः-निवासस्थानम्, सः हिरण्यकशिपुः, यदृच्छया—स्वेच्छया, याम्.पूर्वादिदिशम्. अशिश्रियत्-अगमत् अध्यतिष्ठन्। मुकुटानामुपलेषु स्खलन्तः करा येषां ते तैः मुकुटोपलस्खलत्करैः-मौलिरत्नसञ्चरत्करैः शिरःसु बद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः। त्रिदशैः-देवैः, त्रिसन्ध्यम्-तिसृष्वपि सन्ध्यासु तस्यै (एव) दिशे-दिशायै, नमः-नमस्कारः. अकारि-कृतः।

संस्कृत सरलार्थ—अन्यलोकेषु सञ्चरमाणः राजश्रीविभूषितः स हिरण्यकशिपुः स्वेच्छयैव यां कामपि दिशा मगमत्, तद्भयत्रस्ता देवाः त्रिष्वपि कालेषु सन्ध्यावन्दनसमयेऽपि दिङ्नियम मुल्लंघ्य तदाक्रमणाशङ्कया तस्यै दिशे एव प्रणामं कृतवन्तः।

व्याकरण–सम्+चर्+इष्णुच्=सञ्चरिष्णुः। श्रिधातो लुंङि "णिश्रि" इत्यादिना चङि कृते द्वित्वम् इयङादेशः प्रथमपुरुषैकवचने–अशिश्रियत्। आ+श्रि+अच्–आश्रयः। त्रिसन्ध्य मित्यत्र 'तद्धितार्थोत्तरपद' इत्यादिना समाहारे द्विगुसमासः द्विगुरेकवचनम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया 'दिशे' इत्यत्र 'नमः स्वस्तीत्यादिना चतुर्थी। कृञ् धातो. लुङि कर्मवाच्ये-अकारि।

प्रसंग—नृसिंहावतार में भगवान् श्री कृष्ण द्वारा हिरण्यकशिपु के वध का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता,
नृसिंह ? सैंहीं मतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै—
रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥४७॥

अन्वय—नृसिंह! अतनुम् सैंहीम् तनुम् बिभ्रता सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः नखैः उरोविदारम् प्रतिचस्करे।

शब्दार्थ— नृसिह = हे नृसिंहावतार धारण करने वाले पुरुषोत्तम भगवन् श्रीकृष्ण — अतनुम् = अतिविस्तीर्ण विशाल, सैंहीम् = सिंह के आकार वाले, तनुम् = शरीर को, बिभ्रता = धारण करते हुये, सटाच्छटाभिन्नघनेन = केसर-समूहों द्वारा मेघों को छिन्न करने वाले, त्वया = आप श्री कृष्ण के द्वारा, स—वह हिरण्यकशिपु, मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः = मुग्धा रमणी के स्तनों के संस्पर्श से (भी) टूट जाने वाले अथवा टेढे हो जाने वाले (अर्थात् अति कोमल भी, नखैः = नखों द्वारा, उरोविदारम्—वक्षः स्थल चीरकर, प्रतिचस्करे = मार डाला गया था।

अनुवाद—हे नृसिंहावतारधारी भगवान् कृष्ण ! अतिविस्तीर्ण सिंह के आकार के शरीर को धारण करते हुये केसर समूह से मेघों को छिन्न करने वाले आपके द्वारा वह हिरण्यकशिपु, अभिनव कान्ता के स्तनों के संस्पर्श से (भी) टूट जाने वाले नखों से अर्थात् अति कोमल भी नखों से, वक्षः—स्थल चीर कर मार डाला गया था।

भावार्थ—नारद जी भगवान् श्री कृष्ण से कहते हैं कि वह हिरण्यकशिपु, नृसिह रूप धारी आप के द्वारा नखों से वक्षः स्थल को चीर कर मार डाला गया था। अर्थात् आपने अपने कोमल नखो से वज्रवत् कठोर उसके वक्षः स्थल को चीर कर उसे मार डाला था। वज्रवत् कठोर देह वाला भी वह आपके द्वारा केवल अति कोमल नखों से ही मार डाला गया था, इससे आपका शौर्य और महत्व विख्यात है आप जैसे शक्तिमान् के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है।

समास विग्रहादि—ना सिंह इव इति नृसिंहः (उपमितसमासः) तत्सम्बुद्धौ हे नृसिह ! । न तनुः अतनुः ताम् अतनुम् । सिंहस्य इयं सैंही ताम् सैंहीम् । सटानां छटाः सटाच्छटाः ताभिः भिन्ना घना येन तेन सटाच्छटाभिन्नघनेन । कान्तायाः स्तनौ कान्तास्तनौ मुग्धौ यौ कान्तास्तनौ इति मुग्ध कान्तास्तनौ तयोः सङ्गः तेन भंगुराः तैः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः अथवा मुग्धा या कान्ता तस्याः स्तनौ तयोः सङ्गेन भङ्गुराः तैः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः ।

संस्कृत टीका—नृसिह—हे नृसिंहावतारधारिन् भगवन् श्रीकृष्ण ? अतनुम्-वितीर्णाम्, सैंहीम्-सिंहसम्बन्धिनीम्, तनुम् = शरीरम्, बिभ्रता-धारयता, सटानां छटाभिः भिन्ना घना येन तेन सटाच्छटाभिन्नघनेन-केसर

समूहविदारितमेघमण्डलेन, त्वया-भवता, सः-दैत्यः हिरण्यकशिपुः, मुग्धा या कान्ता तस्याः स्तनयोः-संगेन भङ्गुरास्तैः मुग्धकान्तास्तनसंगभङ्गुरैः अभिनवरमणीकुचसंस्पर्शवक्रैः, नखैः=करजैः, उरोविदारम्-उरो विदीर्य, प्रतिचस्करे-विदारितः हतः इत्यर्थः।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनि भंगवन्तं श्रीकृष्णं कथयति-वदति-विस्तीर्णं नृसिंहशरीरं धृत्वा त्वया स दैत्यः, नवरमणीकुचसङ्गेनापि कुटिलै रतिकोमलैरपि नखैः वक्षः स्थलं विदीर्य हतः। तव नृसिंहवपुषोऽतिविस्तीर्णत्वात् गगनस्था मेघा अपि केसरसमूहै विच्छिन्ना बभूवुः। अतो मानवातीत-शक्तिमता भवता न किमप्यसाध्यम्।

व्याकरण—सिंहस्येयमिति विग्रहे सिंह शब्दादण् ङीप् द्वितीयैक वचने—सैंहीम्। उरस्+वि+हृ+णमुल्—उरोविदारम्। प्रति पूर्वकात् क्र्यादि हिंसार्थकात् कृ धातो लिटि कर्मणि गुणे कृते 'हिंसायां प्रतेश्च' इति सुडागमे—प्रतिचस्करे। वि+भृ+शतृ तृतीयैकवचने—विभ्रता। तनु शब्दः काये कृशेऽल्पेऽर्थे चापि वर्तते। एवमेव मुग्धशब्दोऽपि सौम्ये नवे मूढेऽर्थेऽपि वर्तते।

प्रसंग—हिरण्यकशिपु के रावण रूप में द्वितीय जन्म के वृतान्त का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

विनोद मिच्छन्नथ दर्पजन्मनो
रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
स रावणो नाम निकामभीषणं
बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः॥४८॥

अन्वय—अथ स पुनः त्रिदशैः समम् रणेन दर्पजन्मनः कण्ड्वाः विनोदम् इच्छन् दिवः क्षतरक्षणम् निकामभीपणम् रावणो नाम रक्षः बभूव।

शब्दार्थ—अथ=अपने वध के अनन्तर, सः=वह हिरण्यकशिपु, पुनः=फिर भी, त्रिदशैः समम्=देवताओं के साथ, रणेन=संग्राम द्वारा, दर्पजन्मनः=घमण्ड से उत्पन्न, कण्ड्वाः=खुजली के, विनोदम्=दूर करने या मिटाने के लिये, इच्छन्=इच्छा करता हुआ, दिवः=स्वर्ग के, क्षतरक्षणम्=संरक्षण को विनष्ट करने वाला, निकामभीपणम्=अतिभयानक, रावणो नाम रक्षः बभूव=रावण नाम का राक्षस हुआ।

अनुवाद—अपने वध के पश्चात् वह हिरण्यकशिपु फिर भी देवताओं के साथ संग्राम द्वारा घमण्ड से उत्पन्न (अपनी) खुजली को मिटाने की इच्छा करता हुआ स्वर्ग के संरक्षण का विनष्ट करने वाला अति भयानक रावण नाम का राक्षस हुआ।

भावार्थ—यद्यपि भगवान् ने नृसिंह रूप धारण कर हिरण्यकशिपु का वध कर दिया था फिर भी उसका घमण्ड चूर्ण नहीं हुआ था इसलिये उसने पुनः देवताओं के साथ युद्ध द्वारा अपनी गर्वोत्पन्न खुजली को मिटाने के लिये और स्वर्ग के संरक्षण का विनाश करने के लिये अति भयानक रावण राक्षस के रूप में जन्म लिया, अर्थात् हिरण्यकशिपु ही दूसरे जन्म में रावण राक्षस हुआ।

समास विग्रहादि—दर्पाज्जन्म यस्याः सा दर्पजन्मा तस्याः दर्पजन्मनः। भीषयतीति भीषणम् निकामं भीषणं निकामभीषणम्। क्षतं रक्षणं येन तत् क्षतरक्षणम्। विश्रवसोऽपत्यं पुमान्—रावणः अत्र 'तस्यापत्यमिति अण् प्रत्यये कृते "विश्रवसो विश्रवणरवणौ" इति विश्रवसः स्थाने रवणादेशः आद्यचो वृद्धौ-रावणः। अथवा रावयतीति रावणः।

संस्कृत टीका—अथ-स्ववधादनन्तरम्, सः-हिरण्यकशिपुः, पुनः—भूयोऽपि, त्रिदशैः=देवैः, समम्-साकम्, रणेन-युद्धेन, दर्पजन्मनः-गर्वोद्भूतायाः, कण्ड्वाः-भुजकण्डूतेः, विनोदम्-अपनोदम्, इच्छन्=अभिलषन्, दिवः स्वर्गस्य, क्षतरक्षणम्-विनाशितसंरक्षणम्, निकामभीषणम्=अति भयानकम्, रावणो नाम=रावणेति नाम्ना विख्यातम्, रक्षः=राक्षसः, बभूव=जातः।

संस्कृत सरलार्थ—नृसिंहरूपधारिणा भगवता मृत्युं गमितस्यापि हिरण्यकशिपो रहङ्कारो न विचूर्णोऽभवत्, अत एव स पुनरपि देवैः समं युद्धं विधाय स्वभुजकण्डूतेः प्रशमनार्थं रावणेत्याख्याविख्यातः राक्षसो जातः। स स्वरूपतः शरीरेण चापि परमभयानकः आसीत्, अनेन स्वर्गस्य शान्ति-व्यवस्था अपि विनाशिता।

व्याकरण—भीषयत इति भीषणः इति विग्रहे णिजन्ताद् भीधातोः नन्द्यादित्वात् ल्युप्रत्ययः "भियो हेतुभये षुक्" इति षुक् च—भीषणः। निकामं भीषण इत्यत्र सहसुपेति समासः। रावयतीति विग्रहे णिजन्ताद् रुधातोः कर्तरि ल्युट्—

रावणः । वि+नुद्+घञ् द्वितीयैक वचने-विनोदम् । इष् धातोः शतृ प्रत्यये प्रथमैकवचने—इच्छन् ।

प्रसंग— रावण के तपः शौर्य का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

प्रभु बुंभूषु र्भुवनत्रयस्य यः,
शिरोऽतिरागाद् दशमं चिकर्तिषुः ।
अतर्कयद् विघ्न मिवेष्टसाहसः
प्रसाद मिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥४९॥

अन्वय—भुवनत्रयस्य प्रभुः वुभूपुः, अतिरागात् दशमम् शिरः चिकर्तिषुः इष्टसाहसः यः इच्छासदृशम् पिनाकिनः प्रसादम् विघ्नम् इव अतर्कयत् । स रावणो नाम रक्षो वभूवेति पूर्वेणान्वयः ।

शब्दार्थ—भुवनत्रयस्य = तीनों लोकों का, प्रभुः = स्वामी, बुभूपुः = होने की इच्छा करने वाला, अतिरागात् = अत्यन्त उत्साह से, दशमं शिरः = दशवां शिर । चिकर्तिपुः = काटने की इच्छा वाला, इष्टसाहसः = साहसप्रिय अर्थात् साहस को ही सर्वप्रिय मानने वाला यः = जिसने इच्छासदृशम्-इच्छानुरूपम्, पिनाकिनः = शिवजी के, प्रसादम् = वरदान को, विघ्नम् इव = विघ्न वाधा जैसा, अतर्कयत् = माना ।

अनुवाद—तीनों लोकों का स्वामी होने के लिये इच्छुक, (अतएव) अत्युत्साह से दशवां शिर काटने के लिए (भी) इच्छुक अति साहसी जिस रावण ने इच्छानुरूप (भी) शिवजी के वरदान को विघ्न जैसा (ही) समझा । (ऐसा वह रावण राक्षस हुआ) ।

भावार्थ—रावण तीनों लोकों का स्वामी होना चाहता था, इसीलिये उसने शिवजी की आराधना की और अपने नौ शिरों को काट कर शिवजी को अर्पित कर दिया, वह वड़ा साहसी था अतएव वह अपना दशवां शिर भी काट कर अर्पित करने वाला था पर उसी समय शिवजी ने उसे उसकी इच्छानुकूल वरदान दे दिया फलतः वह अपना दशवां शिर न काट सका, वह साहस प्रिय था अतएव उसने इच्छानुरूप वरदान को भी उस समय अपने इस शिरः कर्तन रूप साहसिक कार्य में विघ्न ही माना । साहसी जनों के

लिये फल प्राप्ति से भी बढ़ कर अपना साहसिक कार्य ही होता है, ऐसे लोग फलावाप्ति की चिन्ता न करके साहसिक कार्य ही सर्वोपरि मानते हैं।

समास विग्रहादि—भुवनानां त्रयं तस्य भुवनत्रयस्य। इष्टं साहसं यस्य सः इष्टसाहसः। इच्छया सदृशः तम् इच्छासदृशम् पिनाकः अस्य अस्तीति पिनाकी तस्य पिनाकिनः।

संस्कृत टीका—भुवनानां त्रयं तस्य भुवनत्रयस्य=लोकत्रयस्य, प्रभुः-ईश्वरः स्वामी वा, बुभूषुः-भवितुमिच्छुः (अतएव) अतिरागात्-अत्युत्साह-वशात्, दशमं शिरः=दशमं मूर्धानम्, चिकर्तिषुः-छेत्तुमिच्छुः, इष्टसाहसः=साहसप्रियः अतिसाहसीत्यर्थः यः-रावणः, इच्छासदृशम्-स्वेच्छानुरूपम्, पिनाकिनः-शिवस्य, प्रसादम्-वरम्, विघ्नमिव=स्वशिरश्छेदनान्तरायमिव अतर्कयत्—उत्प्रेक्षितवान् अमन्यत इत्यर्थः।

संस्कृत सरलार्थ—लोकत्रयस्येश्वरो भवितु मिच्छन् अतएव अत्युत्साह-पूर्वकं स्वकीयं दशममपि शिरश्छेत्तु मिच्छन् साहसिककर्मप्रियत्वात् यः रावणः पिनाकिना परमानुग्रहेण प्रदत्तमपि स्वेच्छानुरुपमपि प्रसादं स्वशिरश्छेदनरूप-साहसिककार्यान्तरायमिवामन्यत। सत्यमिदं यत्साहसिका जनाः स्वकीय साहसिककार्यफलावाप्तिचिन्तापरा न भवन्ति अपितु ते स्वसाहसिककर्म-प्रदर्शनमेवात्मसन्तुष्टिकरं सर्वस्वं मन्यन्ते।

व्याकरण—प्रपूर्वकात् भूधातोः डु प्रत्यये-प्रभुः। सन्नन्ताद् भूधातोः उप्रत्यये बुभूषुः। सन्नन्तात् कृती छेदने इत्यस्माद् धातो उप्रत्यये-चिकर्तिषुः। पिनाक (धनुः) शब्दादिनि प्रत्यये, षष्ठ्येकवचने—पिनाकिनः। प्र+सद्+घञ् द्वितीयैक वचने-प्रसादम्, विपूर्वकात् हन्धातोः कप्रत्यये-विघ्नम्। तर्कधातोः लङि प्रथमपुरुषैकवचने-अतर्कयत्।

प्रसंग—रावण द्वारा कैलास पर्वत के उत्थापन का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं,
वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुतासससम्भ्रम—
स्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रियम् ॥५०॥

अन्वय—पृथिवीभृतां वरम् समुत्क्षिपन् यः त्रसत्तुषाराद्रिसुतासम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेपसुखेन शूलिनः वरप्रदानस्य निष्क्रियम् चकार (स रावणो नाम रक्षो वभूवेति पूर्वेणान्वयः)।

शब्दार्थ—पृथिवीभृताम् = पृथिवी को धारण करने वाले अर्थात् पर्वतों में, वरम् = श्रेष्ठ अर्थात् कैलास पर्वत को, समुत्क्षिपन् = ऊपर उठाते हुये, यः = जिस रावण ने, त्रसत्तुषाराद्रिसुतासम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेपसुखेन = (त्रसत् = डरती हुई, तुषाराद्रिः = हिमालय पर्वत, सुता = पुत्री अर्थात् पार्वती, ससम्भ्रम = आकुलता पूर्वक, स्वयङ्ग्रह = अपने आप कण्ठ ग्रहण से, आश्लेष = आलिङ्गन सम्मिलन) अर्थात् डरती हुई पार्वती जी के आकुलता पूर्वक स्वयं कण्ठ ग्रहण के आलिङ्गन जन्य सुख के द्वारा। शूलिनः = शिवजी के, वरप्रदानस्य = वर देन का, निष्क्रियाम् = वदला, चकार = चुका दिया। अथवा निष्क्रियाम् चकार का अर्थ है = क्रय व्यवहार से होने वाले याचना दोप की दीनता को दूर कर दिया, अर्थात् जो उसने शिवजी से वरदान मांगा था और इस प्रकार जो उसने याचना दोप जन्य दीनता को प्रदर्शित किया था उस दोष को उसने पार्वती द्वारा स्वयं उनका कण्ठाश्लेप करा कर और इस प्रकार उनको सुख देकर अपनी याचना के दोप का सम्मार्जन कर दिया, शिव जी के वर प्रदान का भार उतार दिया, अपने ऊपर उनका कोई ऋण न रखा।

अनुवाद—पृथिवी को धारण करने वाले अर्थात् पर्वतों में श्रेष्ठ कैलासगिरि को ऊपर उठाते हुये जिस रावण ने, डरती हुई पार्वती के आकुलता पूर्वक स्वयं कण्ठग्रहण के आलिङ्गन के सुख के द्वारा शिवजी के वरदान का वदला चुका दिया था अथवा अपनी याचना दोप जन्य दीनता को दूर कर दिया था।

भावार्थ—तपोनिरत रावण ने क्रीड़ा करते हुये जब कैलास पर्वत को उठा लिया तब उस पर बैठी हुई पार्वतीजी आकुल हो गई और आकुलतावश उन्होंने स्वयं शंकर जी का कण्ठाश्लेप किया जिससे शंकर जी आनन्दित हुये, इस प्रकार का शंकर जी को सुख देकर मानो रावण ने उनके द्वारा दिये गये वरदान का वदला चुका दिया था अथवा वर मांगने में उसको जो दीनता प्रदर्शित करनी पड़ी थी, इस प्रकार, उनको सुखित कर उसने उस दीनता को धो डाला था।

समास विग्रहादि—तुषारस्य अद्रिः तुषाराद्रिः तुषाराद्रेः सुता तुषाराद्रिसुता सम्भ्रमेण सहितः इति ससम्भ्रमः त्रसन्ती चासौ तुषराद्रिसुता इति त्रसत्तुषाराद्रिसुता तस्याः ससम्भ्रमेण यः स्व यङ् ग्रहः तेन यः आश्लेपः इति त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ् ग्रहाश्लेपः तेन यत्सुखं तेन इति त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ् ग्रहाश्लेपसुखेन । पृथिवीं बिभ्रति इति पृथिवीभृतः तेषां पृथिवीभृतांम् । शूलम् (त्रिशूलम्) अस्यास्तीति शूली तस्य शूलिनः ।

संस्कृत टीका—पृथिवीभृनाम्-भूमिधारिणाम् पर्वतानाम्. वरम्-श्रेष्ठम् अर्थात् कैलासगिरिम्, उत्क्षिपन् = उत्त्थापयन् दर्पवशादुत्तोलयन्नित्यर्थः, यः रावणः, त्रसन्ती चासौ तुषाराद्रिसुता तस्याः ससम्भ्रमेण यः स्वयंग्रहः तेन यः आश्लेषः तेन यत्सुखम् तेन त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयङ् ग्रहाश्लेषसुखेन = बिभ्यत्तुहिनगिरिसुताससम्भ्रमस्वयङ् कण्ठग्रहणालिङ् गनसुखेन,शूलिनः शूलपाणेः शिवस्य, वरप्रदानस्य-वरदानस्य, निष्क्रियम्-प्रत्युपकारम्, चकार कृतवान् ।

संस्कृत सरलार्थ—पर्वतश्रेष्ठं कैलासगिरिं दर्पादुत्त्थापयन् स रावणः, त्रसन्त्या हिमालयपुत्र्याः पार्वत्याः आकुलतया स्वयङ् ग्रहेणाश्लेपजन्येन सुखेन शिवप्रदत्तवरस्य निष्क्रियतां कृतवान् । अर्थात् कैलासोत्तोलनेन स, ससम्भ्रमतः गिरिजाकृतेन शिवाश्लेपजन्यसुखेन शिवप्रदत्तवररूपादृणादात्मानं मोचितवान् ।

व्याकरण – पृथिवी + भृ + क्विप् षष्ठी बहुवचने—पृथिवीभृताम् । सम् + उत् + क्षिप् + शतृ प्रथमैकवचने—समुत्क्षिपन् । शूलशब्दादिनिः षष्ट्येकवचने—शूलिनः । निस् + क्री + अच्—निष्क्रियम् (द्वितीयैक वचने) ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में वर प्रदान और आश्लेष सुख में परस्पर विनिमय का वर्णन किया गया है अतः यहाँ परिवृत्ति नामक अलंकार है ।

प्रसंग—स्वर्ग लुण्ठनादि दुष्कृत्यों द्वारा रावण कृत उपद्रवों का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

पुरी मवस्कन्द लुनीहि नन्दनं,
मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली,
य इत्थ मस्वास्थ्य महर्दिवं दिवः ॥ ५१ ॥

अन्वय—वली यः नमुचिद्विपा विगृह्य पुरीम् अवस्कन्द, नन्दनम् लुनीहि, रत्नानि मुषाण अमराङ्गनाः हर, इत्थम् अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्यम् चक्रे (स रावणो नाम रक्षो वभूव)।

शब्दार्थ—वली यः=वलवान् जिस रावण ने। न मुचिद्विपा विगृह्य= इन्द्र के साथ विरोध करके। पुरीम्=अमरावती पुरी को (वार वार)। अवस्कन्द=घेर लिया। नन्दनम्=नन्दन वन को। लुनीहि=काट डाला। रत्नानि=रत्नों अर्थात् सभी सुन्दर वस्तुओं को। मुपाण=लूट लिया। अमराङ्गनाः=देवांगनाओं को। हर=हरण कर लिया। इत्थम्=इस प्रकार। अहर्दिवम्=दिन प्रति दिन। दिवः=स्वर्ग का अर्थात् स्वर्ग में। अस्वास्थ्यम् चक्रे=उपद्रव मचा दिया।

अनुवाद—वलवान् जिस रावण ने इन्द्र से विरोध करके अमरावती पुरी को (वार वार) घेर लिया, नन्दनवन को काट डाला, सुन्दर सुन्दर वस्तुओं को (वार वार) लूट लिया, देवाङ्गनाओं को हरण किया। इस प्रकार दिन प्रतिदिन स्वर्ग में उपद्रव मचा दिया (ऐसा वह रावण नाम का राक्षस हुआ)।

प्रस्तुत श्लोक में अवस्कन्द लुनीहि, मुषाण और 'हर' क्रिया पद क्रमशः अव+स्कन्द्, लू, मुष और हृ धातुओं के लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन के रूप हैं पर इनका अर्थ भूतकालिक क्रिया के रूप में किया गया है, इसका कारण यह है कि जहाँ एक ही कर्ता के द्वारा अनेक कार्यों के साथ ही साथ वार वार किये जाने का वर्णन होता है वहाँ क्रिया समभिहार में क्रिया का प्रयोग विकल्पतः लोटलकार में भी होता है (समुच्चयेऽन्यतरस्याम्) ऐसी स्थिति में एक सामान्य क्रिया का अनुप्रयोग भी होता है जैसी कि यहाँ 'चक्रे' क्रिया है। अतएव यहाँ इन सभी क्रियाओं से भूतकालिक अर्थ ग्रहण किया गया है।

भावार्थ—जिसने इन्द्र से विरोध करके अमरावती को वार वार घेर लिया, रत्नों को चुरा लिया नन्दनोद्यान को काट डाला और देवाङ्गनाओं का हरण किया, इस प्रकार दिन प्रतिदिन जिसने स्वर्ग में उपद्रव कर डाला था वह रावण नाम का राक्षस था।

समास विग्रहादि—नमुचिम् द्वेष्टि इति नमुचिद्विट् तेन नमुचिद्विषा। वलमस्यास्तीति वली। अहनि च दिवा चेति अहर्दिवम्। अमराणा मङ्गनास्ताः अमराङ्गनाः।

संस्कृत टीका—वली यः=वलवान् यः रावणः, नमुचिद्विषा-इन्द्रेण, विगृह्य-विरोध कृत्वा, पुरीम्-अमरावतीं पुरीम्, (वारम्वारम्) अवस्कन्द-अवरुरोध, नन्दनम्-नन्दनोपवनम्, लुनीहि-विच्छिच्छेद, रत्नानि-मणिमुक्तादीनि सुन्दरवस्तूनि, मुषाण-मुमोष, अमराङ्गना—देवाङ्गनाः, हर-जहार, इत्थम्—अनेन विधिना, अहर्दिवम्-अहन्यहनि, दिवः=स्वर्गस्य अस्वास्थ्यम् चक्रे-उपद्रवं चकार (एतादृशः स रावणोनाम रक्षो वभूव)।

संस्कृत सरलार्थ वलवता येन इन्द्रेण सह विरुद्ध्य, अमरावती पुरी पौनः पुन्येन अवरुद्धा, नन्दनं वनं च विच्छिन्नम्, रत्नानि तथैव चोरितानि, अमराङ्गनाश्च हृता, अनेन प्रकारेण तेन स्वर्गे अस्वास्थ्यम् विहितम्।

व्याकरण—वि+ग्रह्+क्त्वा—ल्यप्-विगृह्य, स्वस्थ शब्दात् ष्यञ् वृद्धौ स्वास्थ्यम् न स्वास्थ्यम् अस्वास्थ्यम्।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में समुच्चयालंकार है।

प्रसंग—युद्ध में रावण से भयभीत होकर इन्द्र देव भी भाग जाते थे इसी बात का नारद जी वर्णन कर रहे हैं -

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमो—
न चित्रमुच्चैः श्रवसः पदक्रमम्।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं,
वलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम्॥ ५२॥

अन्वय—संयति येन अनुद्रुतः वलस्य शत्रुः अभ्रमोः भर्तुः सलीलयातानि न प्रशशंस, उच्चैः श्रवसः चित्रं पदक्रमम् न (प्रशशंस) केवलम् शीघ्रतामेव (प्रशशंस)।

शब्दार्थ—संयति=संग्राम में। येन=जिस रावण के द्वारा। अनुद्रुतः=खदेडे गये। वलस्य शत्रुः=वल नामक असुर के शत्रु अर्थात् इन्द्र देव ने। अभ्रमोः=पूर्वदिक् करिणी के। भर्तुः=स्वामी अर्थात् एरावत गजराज के। सलीलयातानि=सविलास गमनों को। न प्रशशंस=प्रशंसा नहीं की (और)

न उच्चैः श्रवसः=उच्चैः श्रवा नामक अपने अश्व के। चित्रम्=नाना प्रकार के। पदक्रमम्=पदन्यास (की प्रशंसा की) (किन्तु)। केवलम्=एक। शीघ्रताम् एव =शीघ्रगति की ही, (प्रशंसा की)।

अनुवाद—संग्राम में जिस रावण के द्वारा खदेड़े गये बलासुर के शत्रु अर्थात् इन्द्र ने पूर्वदिक् करिणी के स्वामी ऐरावत गजराज की सविलास गतियों की प्रशंसा नहीं की और न (अपने) उच्चैः श्रवा नामक अश्व के नाना विधि पदन्यास की (प्रशंसा की) (अपितु उनकी) केवल शीघ्रता (सत्वर गति) की (ही प्रशंसा की)।

भावार्थ—जब रावण ने संग्राम स्थल में इन्द्र का पीछा किया और वह भयभीत होकर भागा तब उस इन्द्र ने न तो अपने ऐरावत गजराज के विलास पूर्वक मन्द गमन की प्रशंसा की और न अपने उच्चैः श्रवा नामक अश्व के चित्र विचित्र पदन्यासों की ही प्रशंसा की अपितु इन दोनों के अतिवेग से भागने की ही प्रशंसा की जिससे कि वह आत्मरक्षा कर सके, अर्थात् रावण ने इन्द्रादि देवताओं को भी संग्राम में मारकर भगा दिया था।

समास विग्रहादि—लीलया सहितं सलीलम्, सलीलं यातानि सलीलयातानि। पदानां क्रमः तम् पदक्रमम्।

संस्कृत टीका—संयति-संग्रामे, येन-रावणेन, अनुद्रुतः=अनुधावितः, बलस्य=बलाख्याख्यातस्यासुरस्य, शत्रुः=रिपुः अर्थात् इन्द्रः, अभ्रमोः=पूर्वदिक् करिण्याः, भर्तुः=स्वामिनः, अर्थात् ऐरावत गजराजस्य, सलीलयातानि =सविलासगतीः न प्रशशंस=न श्लाघयामास, (किञ्च) उच्चैः श्रवसः=एतन्नामकस्य स्वकीयस्याश्वस्य, चित्रं-नानाविधम्, पदक्रमम्=पादविक्षेपम् (न प्रशशंस अपितु) केवलम्-एकाम्, शीघ्रताम्-सत्वरगमन मेव (प्रशशंस)।

संस्कृत सरलार्थ—संग्रामभूमौ रावणभयादितस्ततः पलायमानो देवेश्वरो नापि स्वगजराजस्य सविलासगतिं नापि चोच्चैः श्रवसश्चित्रं पादविक्षेपम् प्रशशंस अपितु केवलं तयोः शीघ्रता मेवात्मरक्षाकारण ममन्यत।

व्याकरण—अनु+द्रु+क्त प्रत्ययः=अनुद्रुतः। भृ+तृच्-षष्ठ्येकवचने —भर्तुः। प्र+शंस-लिट् प्रथम पुरुषैक वचने-प्रशशंस।

प्रसंग—इन्द्र ने रावण के भय से भागकर उलूक की भाँति ही पर्वत गुफा में शरण ली, इसी बात का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

अशक्नुवन् सोढु मधीरलोचनः
सहस्ररश्मे रिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तर
निनाय विभ्यद् दिवसानि कौशिकः ।। ५३ ।।

अन्वय—अधीरलोचनः कौशिकः सहस्ररश्मेः इव यस्य दर्शनम् सोढुम् अशक्नुवन् हेमाद्रिगुहागृहान्तरं प्रविश्य विभ्यत् दिवसानि निनाय ।

शब्दार्थ—अधीरलोचनः = भयवश कातर दृष्टि वाला । कौशिकः = इन्द्र, तथा अशक्त दृष्टि वाला उलूक । सहस्ररश्मेः इव = सूर्य के समान । यस्य = जिस रावण के । दर्शनम् = देखने को । सोढुम् = सहने के लिये । अशक्नुवन् = असमर्थ होता हुआ । हेमाद्रिगुहागृहान्तरम् = सुमेरु पर्वत के कन्दरारूपी घर के भीतर । प्रविश्य = प्रवेश करके, छिपकर । विभ्यत् = डरता हुआ । दिवसानि = दिनों को, निनाय = व्यतीत करता था ।

अनुवाद—अशक्त दृष्टि वाले उलूक की भाँति (भयवश) कातर दृष्टि वाले इन्द्रदेव ने सूर्य के समान जिस रावण के दर्शन को सहने के लिये असमर्थ होते हुए सुमेरु पर्वत के गुहा रूपी घर के भीतर प्रवेश कर (अर्थात् वहाँ छिपकर) (और वहां भी) डरते हुये, दिन व्यतीत किये ।

भावार्थ—इन्द्र, रावण से इतना भयभीत हो गया था कि वह उसे देख भी नहीं सकता था इसीलिये वह उसकी दृष्टि बचाकर सुमेरु पर्वत की गुहा में प्रविष्ट होकर और वहाँ भी भयवश काँपता हुआ ही उसी प्रकार अपने दिन विताता था जिस प्रकार कि उलूक जो कि सूर्य को देखने में सर्वथा असमर्थ होता है. सूर्य के दर्शन से बचने के लिये पर्वत गुफा में छिपकर अपना पूरा दिन, अर्थात् जब तक सूर्य प्रकाशित रहता है, व्यतीत करता है ।

श्लेष के द्वारा प्रस्तुत श्लोक में कौशिक का अर्थ इन्द्र और उलूक दोनों ही है । उलूक तो सूर्य दर्शन के लिये सर्वथा स्वभावतः ही अशक्त दृष्टि होता है । पर इन्द्र सूर्यवत् तेजस्वी रावण को देखने में भयवश कातर दृष्टि हो गया था । सूर्य के दर्शन से बचने के लिये उलूक तो प्रायः पर्वतीय गुफाओं में दिन

भर छिपा रहता है पर इन्द्र रावण की दृष्टि से बचने के लिये सुमेरु पर्वत गुफा में छिपकर अपने दिन काटता था।

समास विग्रहादि—अधीरे लोचने यस्यासौ अधीरलोचनः। सहस्रं रश्मयो यस्य तस्य सहस्ररश्मेः। हेम्नोऽद्रिस्तस्य हेमाद्रेः, मेहाद्रेः गुहा एव गृहं हेमाद्रिगुहागृहम् तस्याभ्यन्तरं तत् हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्।

संस्कृत टीका—अधीरलोचनः=(भयेन) तरलित दृष्टिः, असमर्थ-नयनः च। कौशिकः=इन्द्रः उलूकश्च, सहस्ररश्मेः=सहस्र-किरणस्य अर्थात् सूर्यस्य इव, यस्य-रावणस्य, दर्शनम्=संप्रेक्षणम्, सोढुम्=मर्पयितुम्, अश-क्नुवन्-अपारयन्, हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्=सुमेरुगिरिकन्दरागुहानिकेतनान्तरम्, प्रविश्य-प्रवेशं कृत्वा अध्यास्येत्यर्थः, बिभ्यत्-भीतः सन् दिवसानिदिनानि, निनाय-गमयति स्म।

संस्कृत सरलार्थ—यथा सूर्यप्रकाशेऽसमर्थदृष्टि रुलूकस्तेजस्विनः सूर्यस्य दर्शनं सोढु मपारयन् गिरिगुहासु दिनानि नयति एवमेव तेजस्विनः रावणाद् भीतो भयतरलितदृष्टि र्महेन्द्रः सुमेरुपर्वतगुहाभ्यन्तर मध्यास्य तथापि बिभ्यदेव दिवसानि अनयत्।

व्याकरण—सह+तुमुन्=सोढुम्, भीधातोः शतृ प्रत्यये "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुमभावे प्रथमैकवचने=बिभ्यत्। दिवस शब्दात् द्वितीया वहुवचने= दिवसानि, दिवसशब्दः पुन्नपुंसके वर्तते—वा तु क्लीवे दिवसवासरी इत्यमरः" कौशिकः=महेन्द्रः उलूकश्च "महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्याल ग्राहिषु कौशिकः इत्य-मरः।" दृश्+ल्युट्=दर्शनम्, नञ्+शक्+शतृ प्रथमैकवचने-अशक्नुवन्। प्र+विश्+क्त्वा-ल्यप्=प्रविश्य। नीधातो लिटि प्रथमपुरुषैकवचने= निनाय।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में इन्द्र की उलूक से समता की गई है आलं-कारिक दृष्टि से यह श्लोक गुणीभूतव्यङ्ग्य के वाच्यसिद्ध्यङ्ग का अच्छा उदाहरण है। प्रकरण के अनुसार तो इस श्लोक में कौशिक शब्द इन्द्र का वाचक है पर यह व्यञ्जनावृत्ति से उलूक अर्थ की भी अभिव्यक्ति भी करता है, इससे इन्द्र और उलूक की समता ध्वनित होती है, अतः यह शब्द शक्ति-मूलक ध्वनि है। पर यह ध्वनि प्रस्तुत उदाहरण में 'सहस्ररश्मेः इव' इस

उपमान की निर्वाहिका है जोकि वाच्यार्थ है, इस प्रकार यह श्लोक गुणीभूत व्यङ्ग्य के वाच्यसिद्ध्यङ्ग का अच्छा उदाहरण भी है।

प्रसंग—रावण की गरदन काटने में विष्णु भगवान् का चक्र भी असमर्थ हो गया था, इसी बात का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

वृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टना—
विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः।
जगत्प्रभो रप्रसहिष्णु वैष्णवं
न चक्र मस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥५४॥

अन्वय—वृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् विकीर्णलोलाग्निकणम् (अत एव) अप्रसहिष्णु वैष्णवं चक्रम् जगत्प्रभोः अस्य सुरद्विषः अधिकन्धरम् न अक्रमत।

शब्दार्थ—वृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्=विशाल शिला के समान कठोर कण्ठ पर टकाराने से, विकीर्णलोलाग्निकणम्=निकली, हुई चञ्चल चिनगारियों (अग्नि कणों) वाला (अतएव) अप्रसहिष्णु=सहन न कर सकने वाला, वैष्णवं चक्रम्=विष्णु का (सुदर्शन) चक्र (भी) जगत्प्रभोः= संसार के अधीश्वर, अस्य=इस, सुरद्विषः=देवताओं के शत्रु अर्थात् रावण की, अधिकन्धरम्=गरदन पर, न अक्रमत=प्रवृत्त न हो सका अर्थात् न काट सका।

अनुवाद—विशाल शिला की भाँति कठोर कण्ठ पर टकराने से निकली हुई चञ्चल अग्निचिनगारियों वाला, (अत एव) न सहन करने योग्य विष्णु भगवान् का (सुदर्शन) चक्र (भी) संसार के अधीश्वर इस देव शत्रु रावण की गरदन पर प्रवृत्त न हो सका अर्थात् उसे न काट सका।

भावार्थ—रावण की ग्रीवा, बड़ी-बड़ी शिलाओं की भाँति कठोर कण्ठ वाली थी, रावण स्वयं उस समय संसार का अधीश्वर बना हुआ था और देवताओं का शत्रु था। जब भगवान् विष्णु ने इसकी गरदन काटने के लिये इस पर अपना सुदर्शन चक्र चलाया तो लौह चक्र के टकराने से शिलावत् कठोर कण्ठ से चञ्चल अग्निकण उसी प्रकार बिखरने लगे जैसे शिला पर

लोहे के शस्त्र से प्रहार करने पर अग्नि कण बिखरने लगते हैं, इस प्रकार वह सुदर्शन चक्र भी रावण की ग्रीवा को न काट सका।

समास विग्रहादि—वृहती चासौ शिला चेति वृहच्छिला, सेव निष्ठुरः यः कण्ठः तत्र घट्टनं तस्मात वृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्। विकीर्णाः लोलाः अग्नेः कणाः यस्य तत्-विकीर्णलोलाग्निकणम्, सुरान् द्वेष्टि सुरद्विट् तस्य सुरद्विपः। जगतः प्रभुः तस्य जगत्प्रभोः। विष्णोरिदं वैष्णवम्। कन्धरायाः मिति अधिकन्धरम्। न प्रसहिष्णु इति अप्रसहिष्णु।

संस्कृत टीका—वृहती या शिला सेव निष्ठुरः यः कण्ठः तत्र घट्टनं तस्मात् वृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्=विशालप्रस्तरकठोरकण्ठसंघर्षणात्, विकीर्णाः लोला अग्निकणा यस्य तत् विकीर्णलोलाग्निकणम्–विक्षिप्तचञ्चलवह्निस्फुलिङ्गम् (अत एव) अप्रसहिष्णु=असहनशीलम्, वैष्णवम्=विष्णु सम्बन्धि, चक्रम्=सुदर्शन नामकं चक्रम्, जगत्प्रभोः जगदधीश्वरस्य सुरद्विपः=सुरारेः अधिकन्धरम्-कन्धरायाम् न अक्रमत=न प्रवृत्तमभवत् न प्रावर्तत इत्यर्थः।

संस्कृत सरलार्थ—महाशिलावत् कठोरकण्ठसंघर्षणोत्पन्नविस्फुरत्स्फुलिङ्गविष्णुचक्र मसमर्थं सत् जगदीश्वरस्य देवशत्रोस्तस्य रावणस्य कन्धरां छेत्तुं न प्राभवत्।

व्याकरण—प्र+सह इष्णुच्=प्रसहिष्णु-नञ्+प्रसहिष्णु=अप्रसहिष्णु। विष्णोरिद मित्यर्थे विष्णु शब्दादण्=वैष्णवम्। कन्धराया मित्यधिकन्धरम् अत्र विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः अव्ययीभावश्चेति नपुंसकत्वात् ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्येति ह्रस्वे कृते-अधिकन्धरम्। सुर+द्विष्+क्विप् षष्ठ्येक वचने-सुरद्विपः। क्रम—लुङि प्रथमपुरुषैकवचने-अक्रमत। वि+कॄ+क्त= विकीर्णम्।

प्रसंग—रावण ने कुवेर को भी प्रकम्पित कर दिया था, इसी बात का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहु—
मंदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः।
निरस्तगाम्भीर्य मपास्त पुष्पकं
प्रकम्पयामास न मानसं न सः ॥५५॥

अन्वय—मदेन दन्ती इव विभिन्नशङ्खः सः कलुषी भवत् निरस्तगाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पकम् मनुष्यधर्मणः मानसम् मुहुः न प्रकम्पयामास (इति तु) न (अपितु प्रकम्पयामास एव)।

शब्दार्थ—मदेन=गजमद से (रावण के पक्ष में) दर्प से, दन्ती इव= गजराज के समान, विभिन्नशङ्खः=शंख को तोड़ देने वाले (रावण पक्ष में) कुबेर की शंख नामक निधि को तोड़ देने वाले, सः=उस रावण ने, कलुषीभवत्=पङ्किल होते हुये (रावण पक्ष में) विक्षुब्ध होते हुये, निरस्तगाम्भीर्यम्=गहराई से रहित किये गये (रावण पक्ष में) गम्भीरता से रहित किये गये, अपास्तपुष्पकम्=पुष्पों से विरहित किये गये, (रावण पक्ष में) परित्याजित पुष्पक विमान वाले, मनुष्यधर्मणः=कुबेर के, मानसम्=मन को, अन्यत्र मानसरोवर को, मुहुः=बार बार, न प्रकम्पयामास=प्रकम्पित नहीं किया (इति तु) न=यह बात नहीं, (अपितु प्रकम्पयामास एव=प्रकम्पित ही किया था।

प्रस्तुत श्लोक के, श्लेष के कारण, दो अर्थ है, एक प्रस्तुत अर्थ, रावण द्वारा कुबेर के मन को प्रकम्पित करने से सम्बन्ध रखता है और दूसरा अप्रकृत अर्थ, गजराज द्वारा मानसरोवर को उन्मथित करने से सम्बन्ध रखता है। गजराज के पक्ष में शंख का अर्थ, हाथी के गण्ड स्थल की एक अस्थि-विशेष है, जो कि जल में प्रवेश करने के कारण प्रस्फुटित हो गई थी। रावण के पक्ष में शंख का अर्थ कुबेर की शंख नामक निधिविशेष है जिसे रावण ने तोड़ दिया था। कलुषीभवत्, निरस्तगाम्भीर्यम् तथा अपास्तपुष्पकम् ये तीनों ही पद 'मानसम्) के विशेषण हैं जिनके श्लेष द्वारा दो अर्थ है—मन और सरोवर। मन के पक्ष में कलुषी भवत् का अर्थ विक्षुब्ध होना है और सरोवर पक्ष में उसका पंकिल होना है। मन के पक्ष में गाम्भीर्य का अर्थ चित्त का अविकृत होना है, सरोवर पक्ष में उसका अर्थ जल की गहराई या अगाधता है। इसी प्रकार मन पक्ष में पुष्पकम् का अर्थ पुष्पक विमान है है और सरोवर पक्ष में उसका अर्थ पुष्प है, अर्थात् रावण द्वारा आक्रान्त होने पर कुबेर के मन से पुष्पक विमान का विचार भी नष्ट कर दिया गया था।

अनुवाद—जिस प्रकार प्रस्फुटित कपोलास्थि वाला गजराज (अपने) मद के कारण (सरोवर में प्रवेश कर) पंकिल होते हुए, गहराई रहित किये गये, (एवं) पुष्पों से विरहित किये गये सरोवर को बार-बार प्रकम्पित कर देता है उसी प्रकार (कुबेर की शंख नामक निधि को तोड़ देने वाले रावण ने (अपने) दर्प से (आक्रमण करके) विक्षुब्ध होते हुये, अविकारिता से रहित किये गये (एवं) पुष्पक विमान (के विचार से भी) दूरीकृत किये गये कुवेर के मन को बार-बार प्रकम्पित नहीं किया यह बात नहीं अपितु प्रकम्पित ही कर दिया था।

समास विग्रहादि—विभिन्नः शंखः येन स विभिन्नशंखः अन्यत्र विभिन्नः प्रस्फुटितः शंखः कपोलास्थिविशेषः यस्य स विभिन्नशंखः। न कलुषम् अकलुषम्, अकलुषम् कलुषम् सम्पद्यमानमिति कलुषी भवत्। निरस्तं गाम्भीर्यम् यस्य तत् निरस्तगाम्भीर्यम्। अपास्तं पुष्पकं यस्मात्तत् अपास्तपुष्पकम्। मनुष्यस्येव धर्मो ऽस्य तस्य मनुष्यधर्मणः।

संस्कृत टीका—विभिन्नशंखः–विनाशितशंखनिधिः (दन्तिपक्षे) प्रस्फुटित कपोलास्थिविशेषः, दन्ती इव=गजराज इव, सः=रावणः, मदेन=दर्पेण अन्यत्र गजमदेन, कलुषी भवत्=मलिनी भवत् विक्षोभं गच्छत् अन्यत्र आविली भवत्, निरस्तगाम्भीर्यम्=दूरीकृताविकारित्वम् अन्यत्र दूरीकृतागाधभावम्, अपास्तपुष्पकम्=व्यपगतपुष्पकाख्यविमानम् अन्यत्र निरस्तपुष्पम्, मनुष्य-धर्मणः–कुवेरस्य मानसम्-चित्तम् अन्यत्र सरश्च, मुहुः न प्रकम्पया मास इति तु न अपितु प्रकम्पयामास एव।

संस्कृत सरलार्थ—यथा मदस्रवच्छङ्खप्रदेशो मदोन्मत्तः कश्चित् गजः सरोवरं प्रविश्य स्वच्छमपि तज्जलं पुनः पुनरप्युन्मथनेनाविलं विदधाति, जल-स्यागाधता मपि दूरी करोति अथ च तद्गतानि कमलादिपुष्पाणि विनाश-यति एवं तत्सरः मुहुर्मुहुः प्रकम्पयति, तथैव विनाशितशंखनिधिः बलम-दोन्मत्तः रावणः विक्षुब्धीभवत्, विनाशितगाम्भीर्यम् अथ च निरस्तपुष्पकवि-मानभावम् कुवेरस्य मनो मुहुर्मुहुः प्रकम्पयामास।

व्याकरण—प्र + कम्प लिट् प्रथमपुरुषैकवचने=प्रकम्पयामास। गम्भीरस्य भाव इत्यर्थे ष्यञ् प्रत्यये गाम्भीर्यम्। कलुष+च्वि+भू+शतृ= कलुषी भवत्। मनुष्यधर्मा इत्यत्र अनिच् प्रत्ययः। निरस्तमित्यत्र निर्+अस् +क्त।

प्रसंग—रावण द्वारा वरुण पर विजय प्राप्ति का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा,
सरोषहुङ्कारपराङ्मुखी कृताः ।
प्रहर्तुं रेवोरगराजरज्जवो
जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥३॥५

अन्वय—रणेषु प्रचेतसा प्रहिताः उरगराजरज्जवः तस्य सरोषहुङ्कार-पराङ्मुखीकृताः (अत एव) सभयाः (सत्यः) जवेन प्रहर्तुः एव कण्ठम् प्रपेदिरे ।

शब्दार्थ—रणेषु=संग्रामों में, प्रचेतसा=वरुणदेव के द्वारा, प्रहिताः=प्रयुक्त किये गये, उरगराजरज्जवः=सर्पराज पाश अर्थात् नागपाश, तस्य=उस रावण के, सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः=सक्रोध हुङ्कार से लौटाये गये (अत एव) सभयाः (सत्यः) भयभीत होकर, जवेन=वेग से, प्रहर्तुः एव=प्रहार करने वाले अर्थात् वरुणदेव के ही, कण्ठम् प्रपेदिरे=गले में लिपट गये ।

अनुवाद—संग्रामों में वरुणदेव द्वारा चलाये गये नाग पाश, उस रावण के सक्रोधहुङ्कार से लौटाये गये (अत एव) भयभीत होकर वेग से प्रहार करने वाले (वरुणदेव) के गले में लिपट गये ।

भावार्थ—रावण के साथ युद्ध करते समय जब वरुणदेव ने रावण पर अपने नाग पाश प्रयुक्त किये तब रावण ने उन नागपाशों को केवल क्रोधपूर्वक हुंकार मात्र से ही लौटा दिया, रावण के हुंकार से भयभीत नागपाश वेग से जाकर चलाने वाले वरुण देव के गले में लिपट गये, इस प्रकार वरुण के नागपाशों का रावण पर कोई प्रभाव न हुआ ।

समास विग्रहादि—उरगाणां राजानः उरगराजाः, उरगराजाः रज्जव इव इति उरगराजरज्जवः । रोषेण सहितं सरोषम् सरोषं यथा स्यात्तथा हुंकारः सरोषहुंकारः । न पराङ्मुखा अपराङ्मुखाः अपराङ्मुखाः पराङ्-मुखाः सम्पद्यमानाः कृताः इति पराङ्मुखी कृताः सरोषहुङ्कारेण पराङ्-मुखीकृताः इति सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः । भयेन सहिताः सभयाः ।

संस्कृत टीका—रणेषु=संग्रामेषु, प्रचेतसा=वरुणेन, प्रहिताः=प्रयुक्ताः उरगराजाः रज्जव इव इति उरगराजरज्जवः-नागपाशाः, तस्य-रावणस्य, रोषेण सहितं सरोषम्, सरोषं यथा स्यात्तथा हूङ् कारः इति सरोषहुङ् कारः तेन पराङ् मुखीकृताः सरोषहूंकारपारङ् मुखीकृताः=सक्रोधहुंकारव्यावर्तिताः (अतएव) सभयाः=भयभीताः सत्यः, जवेन=वेगेन, प्रहर्तुः-प्रयोक्तुः वरुणस्य एव, कण्ठं प्रपेदिरे=गलम् प्राप्ताः ।

संस्कृत सरलार्थ—युद्धे रावणस्य बन्धनहेतोः वरुणेन प्रयुक्ता नागपाशाः तस्य सक्रोधहुकारेण भयभीताः परावर्त्य वेगेन प्रहारकस्य वरुणस्यैव कण्ठं बबन्धुः अर्थात् रावणो वरुणं विजित्य तं तस्यैव नागपाशै र्बबन्ध ।

व्याकरण—प्र+पद् लिट् प्रथमपुरुषबहुवचने—प्रपेदिरे । प्र+हृ+तृच् षष्ठ्येकवचने=प्रहर्तुः । उरस्+गम्+ड प्रत्ययः=उरगः । पराङ् मुख+च्वि+कृ+क्त=पराङ् मुखीकृताः ।

विशेष—दूसरे के बन्धनार्थ प्रयुक्त नागपाश लौटकर प्रयोक्ता के ही कण्ठ में लिपट गये इससे कर्ता का प्रयोजन सिद्ध न होकर उसे अनर्थ प्राप्ति ही हुई अतः यहाँ विषमालंकार है ।

प्रसंग—रावण द्वारा यमराज पर विजय प्राप्ति का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

परेतभर्तु र्महिषोऽमुना धनु—
विधातु मुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महत स्त्रपाभरा—
दुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥ ५७ ॥

अन्वय—अमुना धनुः विधातुम् उत्खातविषाणमण्डलः परेतभर्तुः महिषः भारे हृते अपि महतः त्रपाभरात् भृशानतम् शिरः दुःखेन उवाह ।

शब्दार्थ—अमुना=इस रावण के द्वारा, धनुः विधातुम्=धनुष् बनाने के लिये, उत्खातविषाणमण्डलः=जिसका शृङ्ग मण्डल (सींगों का गोलाकार भाग) उखाड़ लिया गया था (ऐसा) परेतभर्तुः=मृतकों के स्वामी अर्थात् यमराज का, महिषः=महिष (भैंसा) भारे हृते अपि=भार हटा दिये जाने

पर भी, महतः त्रपाभरात् = बहुत बड़े लज्जा के भार से, भृशानतम् शिरः = अत्यधिक झुके हुये शिर को, दुःखेन = कष्ट से, उवाह = धारण करता था।

अनुवाद—इस रावण के द्वारा, (अपना) धनुष् बनाने के लिये, जिसका शृङ्गमण्डल (सींगों का गोलाकार भाग) उखाड़ लिया गया था (ऐसा) मृतक प्राणियों के स्वामी यमराज का महिष (भैंसा) भार के हटा दिये जाने पर भी बहुत बड़े लज्जा भार से अत्यधिक झुके हुये शिर को दुःख से (ही) धारण करता था।

भावार्थ—रावण ने मदोन्मत्त होकर शाङ्‌र्ग धनुष् बनाने के लिये जब यमराज के वाहन महिष के सींग उखाड़ लिये तो उसके शिर का भार हल्का हो गया अतः उसे शिर ऊपर करके या शिर उठा कर चलना चाहिये था पर वह फिर भी शिर नीचा करके ही चलता रहा अतः कवि की उत्प्रेक्षा है कि मानो वह शिर के सींगरूप भार के दूर हो जाने पर भी लज्जा रूप भार के कारण शिर को झुका कर चलता है। भैंसे स्वभावतः ही शिर झुकाकर चलते हैं, इस पर ही कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो वह लज्जा भार के कारण शिर झुका कर चलता है स्वभावतः नहीं।

समास विग्रहादि—विषाणयोः मण्डलं विषाणमण्डलम् उत्खातं विषाणमण्डलं यस्य स उत्खातविषाणमण्डलः परेतानां भर्ता तस्य परेतभर्तुः। त्रपैव भरः तस्मात् त्रपाभरात्। भृशं यथास्यात्तथा आनतमिति भृशानतम् तत् भृशानतम्।

संस्कृत टीका—अमुना-अनेन रावणेन, धनुः = शाङ्‌र्गं चापम्, विधातुम् निर्मातुम्, उत्खातं विषाणयोः मण्डलम् यस्य स उत्खातविषाणमण्डलः = समुत्पाटितशृंगवलयः, परेतानां भर्ता तस्य परेतभर्तुः = प्रेताधिपस्य यमराजस्य महिषः-लुलायः, यमराजवाहनभूतो महिषः, भारे-शिरः स्थितविषाणमण्डलरूपे भारे, हृतेऽपि-उत्सारितेऽपि, महतः-अतिमहतः, त्रपाभरात् = लज्जाभरात्, भृशानतम्-अत्यन्तानम्रीभूतम्, शिरः-मस्तकम्, दुःखेन-क्लेशेन, उवाह-वहतिस्म।

संस्कृत सरलार्थ—शाङ्‌र्गं धनु विधातुं यमराजवाहनभूतस्य महिषस्य बलवता रावणेन शृंङ्गमण्डले समुत्पाटिते सत्यपि यत् स महिषोऽद्यापि आनतेन शिरसा याति तन्मन्ये यत् शिरोभारदूरीकरणसुखितोऽपि महिषोऽपमानभरादेवानतं शिरो वहति।

व्याकरण—उत्+खन् धातोःक्त उत्खातम् । हृ+क्त सप्तम्येकवचने-हृते । वि+धा तुमुन्=विधातुम् । आ+नम्+क्त=आनतम्, वह धातो लिटि 'असंयोगाल्लिट् किदिति कित्वात् वचिस्वपीत्यादिना सम्प्रसारणे कृते प्रथम-पुरुषैक वचने-उवाह । भृ धातोः 'ऋदोरप्' इति अप् प्रत्यये पञ्चम्येकवचने-भरात् । भृञ् धातोः घञ् प्रत्यये वृद्धौ सप्तम्येकवचने-भारे ।

विशेष—भार के दूर कर देने पर भी शिर के झुके रहने में विरोध है इसी आधार पर यहाँ शिर के झुकने के हेतु रुप में लज्जारूपी भार की उत्प्रेक्षा की गई है अतः यहाँ प्रस्तुत श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है ।

प्रसंग—रावण द्वारा सूर्य पर विजय प्राप्ति का वर्णन करते हुये नारद जी कहते कहते हैं—

स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि,
स्थितः कराग्रै रसमग्रपातिभिः ।
अघर्मधर्मोदकविन्दुमौक्तिकै—
रलं चकारास्य वधूरहस्करः ॥५८॥

अन्वय—अहस्करः शुचौ समये स्थितः अपि, असमग्रपातिभिः कराग्रैः सशङ्कः स्पृशन् अघर्मधर्मोदकविन्दुमौक्तिकैः अस्य वधूः अलञ्चकार ।

शब्दार्थ—अहस्करः=दिनकर सूर्य, शुचौ समये=ग्रीष्म काल में अथवा शुद्ध आचार में, स्थितः अपि=वर्तमान हुआ भी-स्थित होकर भी, असमग्रपातिभिः=पूर्णतया न गिरने वाले, कराग्रैः=(अपनी) किरणों के अग्रभागों से, अर्थात् हाथों के अग्रभाग मात्र से, सशङ्कः=सशंकित होकर, स्पृशन्=स्पर्श करता हुआ, अघर्मधर्मोदकविन्दुमौक्तिकैः=शीतल स्वेद विन्दु रूपी मोतियों के द्वारा, अस्य, इस रावण की, वधूः=वधुओं को, अलञ्चकार=अलंकृत करता था ।

अनुवाद—दिनकर सूर्य ग्रीष्म काल में (अथवा शुद्धाचार में) स्थित होकर भी पूर्णरूप से न गिरने वाले (अपनी) किरणों के अग्रभागों से (अथवा) अपनी हाथों की अङ्गुलियों से, सशङ्कित होकर स्पर्श करता हुआ शीतल स्वेदविन्दु रूपी मोतियों के द्वारा इस रावण की वधुओं को अलंकृत किया करता था ।

भावार्थ—ग्रीष्म काल में भी सूर्य रावण के भय से अपनी समग्र किरणों से रावण की वधुओं का स्पर्श नहीं करता था, अत एव उनके मुख आदि अंगों पर स्वेदविन्दु मोतियों की भाँति झलकने लगते थे। इसी बात को कवि इस प्रकार कहता है कि जैसे कोई प्रसाधक (रमणी को अलंकृत करने वाला नायक) शुद्धाचार में स्थित होकर कोमलता वश केवल अपनी अङ्गुलियों के अग्रभाग से स्पर्श करता हुआ मोतियों के द्वारा रमणियों को अलकृत करता है उसी प्रकार ग्रीष्म कालिक सूर्य भी रावण के कारण केवल अपनी किरणों के अग्रभाग से स्पर्श करता हुआ स्वदेविन्दुरुपी मोतियों से रावण की वधुओं का शृंङ्गारप्रसाधन करता था।

समास विग्रहादि—न समग्रं पतन्तीति अससग्रपातीनि तैः असमग्र-पातिभिः। न घर्माः अघर्माः, घर्मस्य उदकम् घर्मोदकम् तस्य विन्दवः घर्मोदक-विन्दवः त एव मौक्तिकानि तैः अघर्मधर्मोदकविन्दुमौक्तिकैः। अहः करोतीति अहस्करः। शङ्कया सहितः सशङ्कः। कराणामग्राणि तैः कराग्रैः।

संस्कृत टीका—अहस्करः=दिनकरः सूर्यः, शुचौ समये=ग्रीष्मकाले, शुद्धाचारे च, स्थितः अपि, वर्तमानो भूत्वापीति भावः। असमग्रपातिभिः-असमस्तपतनशीलैः सङ्कुचितवृत्तिभिः च, कराग्रैः=किरणाग्रभागैः हस्ताग्र-भागैश्च, सशङ्कः=सभयः शङ्काकुलो वा, स्पृशन्=परामृशन् संस्पृशन् च, अघर्मधर्मोदकविन्दुमौक्तिकैः=शीतलस्वेदजलविन्दुमौक्तिकैः अस्य=रावणस्य, वधूः=रमणीः, अलञ्चकार-भूषयामास अलङ्करोति स्म।

संस्कृत सरलार्थ—रावणभयभीतः सूर्यः ग्रीष्मकाले वर्तमानः अपि, शुद्धाचारविचारवर्तमानो नायक इव असमस्तपतनशीलैः किरणाग्रैः सङ्-कुचितहस्ताग्रैश्च परामृशन् संस्पृशन् च रावणवधूः शीतलस्वेदजलविन्दुमौक्तिकैः भूषयामास अर्थात् यथा कश्चिच्छुद्धाचारविचारस्थितो नायकः सङ्कुचित्क-राग्रैः स्पृशन् मौक्तिकैः स्त्रीरलङ्करोति तथैव ग्रीष्मकालस्थितोऽपि उष्णरश्मिः सूर्यः रावणभयवशात् तस्य प्रियाः असमग्रपातिभिः किरणाग्रैः परामृशन् स्वेदजलविन्दुमौक्तिकै रलंकरोति स्म।

व्याकरण—अहस्=कृ धातोः "दिवाविभानिशेत्यादिना ट प्रत्ययः कस्कादित्वात् सत्त्वम्–प्रथमैकवचने—अहस्करः। स्था+क्त प्रत्यय—स्थितः।

स्पृश्+शतृ प्रथमैकवचने—स्पृशत्। अलम् कृ+लिट् प्रथमपुरुषैक वचने—अलञ्चकार ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में समान विशेषणों के द्वारा प्रकृत सूर्य के साथ-साथ अप्रकृत श्रृंगार प्रसाधक के अर्थ की भी प्रतीति होती है अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

प्रसंग—रावण द्वारा चन्द्रमा को अपने अधीन कर लेने की बात का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता,
मनस्विनी रुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिन स्तस्य वितन्वता रतिं
न नर्मसाचिव्य मकारि नेन्दुना ।। ५९ ।।

अन्वय—कलासमग्रेण गृहान् अमुञ्चता मनस्विनीः उत्कयितुम् पटीयसा रतिम् वितन्वता इन्दुना विलासिनः तस्य नर्मसाचिव्यम् न अकारि (इति तु) न (अपि पु अकारि एव)।

शब्दार्थ—कलासमग्रेण=(षोडश) कलाओं से परिपूर्ण। गृहान्=(रावण के) गृहों को। अमुञ्चता=न छोड़ने वाले। मनस्विनीः=मानिनी स्त्रियों को। उत्कयितुम्=उत्कण्ठित करने के लिये। पटीयसा=प्रवीण। रतिम् वितन्वता=(चान्द्रिका से) प्रेम को बढ़ाते हुए। इन्दुना=चन्द्रमा के द्वारा। विलासिनः तस्य=विलास प्रिय उस रावण की। नर्मसाचिव्यम्=रति क्रीड़ा में सहायता। न अकारि=नहीं की गई, यह बात नहीं, अपि की ही गई थी।

अनुवाद—(षोडश) कलाओं से परिपूर्ण (रावण के) गृहों को न छोड़ते हुये, मानिनी नायिकाओं को उत्कण्ठित करने के लिये प्रवीण, (अपनी चन्द्रिका से) प्रेम को बढ़ाते हुये चन्द्रमा के द्वारा, विलासप्रिय उस रावण की रतिक्रीड़ा में सहायता नहीं की गई थी, यह बात नहीं, अपितु की ही गई थी।

भावार्थ— रावण के भय से चन्द्रमा सदा अपनी षोडश कलाओं से परि-

पूर्ण रह कर उसके गृहों को सदा प्रकाशित किया करता था, वह उसकी

मानिनी रमणियों उत्कण्ठित करने में भी कुशल था अतएव वह सदा प्रेम को बढ़ाता हुआ विलासप्रिय रावण की रतिक्रीड़ा में सदा सहायक बनता था। चन्द्रमा कामोद्दीपक होता है अतएव वह सम्पूर्ण कलाओं से परिपूर्ण होकर उसके गृहों को सदा प्रकाशित करता एवं मानिनी स्त्रियों को उत्कण्ठित किया करता था इस प्रकार वह रावण की क्रीड़ाओं में सदा उसका सहायक रहता था।

समास विग्रहादि—कलाभिः समग्रः तेन कलासमग्रेण, सचिवस्य भावः कर्म वा साचिव्यम्, नर्मणि साचिव्यम् नर्मसाचिव्यम्।

संस्कृत टीका—कलासमग्रेण =कलापरिपूर्णेन, गृहान् = रावण-भवनानि, अमुञ्चता=अपरित्यजता-दण्डभयात्सेवाधर्मत्वाच्च सदैव तद्गृहेष्वेव निवसतेत्यर्थः मनस्विनीः = मानिनीः, उत्कयितुम्—उत्कण्ठयितुम् ताः उत्सुकाः कर्तुमित्यर्थः पटीयसा—प्रवीणेन कुशलेन, रतिम्-सुरतानुरागम्, वितन्वता = वर्द्धयता-सुरतौत्सुक्यं विस्तारयतेत्यर्थः, इन्दुना-चन्द्रमसा, विलासिनः विलासप्रियस्य, तस्य—रावणस्य, नर्मसाचिव्यम् = सुरतक्रीड़ा साहाय्यम्, न अकारि-न कृतम् इति तु न अपितु अकारि एव।

संस्कृत सरलार्थ—सकलकलापरिपूर्णो भगवानिन्दुरपि विलासप्रियस्यास्य रावणस्य दण्डभयात् सेवाधर्मत्वाद्वा सदा तद्गृहमधिवसन् तस्य मानिनीरुत्सुकाः कुर्वन् तस्य सुरतक्रीड़ासाहाय्यमकरोत्।

व्याकरण—मनस् + विनि ततः ङीप् द्वितीयाबहुवचने—मनस्विनीः। उत्कम् = उत्सुकं करोतीत्यर्थे उत्कशब्दात् "तत् करोति" इति णिजन्तात् तुमुन्—उत्कयितुम्। पटु शब्दात् ईयसुन् तृतीयैकवचने—पटीयसा। वि + तनु + शतृ तृतीयैकवचने—वितन्वता। वि + लस् + घिनुण् षष्ठ्येकवचने—विलासिनः। नञ् + मुञ्च् + शतृ तृतीयैकवचने—अमुञ्चता। कृ + कर्मणि लुङ्-अकारि। नर्म + सचिव + ष्यञ्—नर्मसाचिव्यम्।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में प्रकृत चन्द्र के साथ श्लेष द्वारा अप्रकृत नर्म सचिव का वर्णन किया गया है। प्राचीन काल की परम्परा के अनुसार राजाओं के यहाँ एक नर्मसचिव रहता था जिसे क्रीड़ा मन्त्री भी कहा जाता था। यह सचिव सभी काम कलाओं में प्रवीण होता था और अपनी सेवा

वृत्ति के लिये रनिवास में रहकर मानिनी स्त्रियों को कामोत्तेजक वचनों द्वारा उत्कंठित किया करता था, यह स्वयं शुद्ध आचरण वाला होता था पर विलासी राजा के प्रेम व्यापार को बढ़ाने में कुशलता पूर्वक राजा की सहायता करता था। इस श्लोक में चन्द्रमा को भी नर्म सचिव के समान विलासी रावण की सहायता करने वाला बतलाया गया है, क्योंकि वह षोडश कलाओं से परिपूर्ण होकर भयवश रावण के प्रासाद में रहता था और मानिनी स्त्रियों को उत्कण्ठित करता था, वह सुरत क्रीड़ा व्यापार में कुशल था और विलासी रावण के काम को चन्द्रिका द्वारा बढ़ाने वाला भी था इस प्रकार वह भी राजा का नर्म साचिव्य करता था।

प्रसंग—रावण द्वारा गणेश जी पर प्राप्त की गई विजय का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिका—
विधित्सया नून मनेन मानिना।
न जातु वैनायक मेक मुद्धृतं
विषाण मद्यापि पुनः प्ररोहति ॥ ६० ॥

अन्वय—मानिना अनेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनम् जातु उद्धृतम् एकम् वैनायकम् विषाणम् अद्यापि पुनः न प्ररोहति।

शब्दार्थ—मानिना=अहंकारी। अनेन=इस रावण के द्वारा। विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया—चतुर विलासिनी स्त्रियों के योग्य गजदन्तमय कर्णाभरण बनाने की इच्छा से, नूनम्-निश्चयतः। जातु=कदाचित्। उद्धृतम्=उखाड़ा गया। वैनायकम्=गणेश जी का। एकं विषाणाम्=एक दाँत। अद्यापि=आज भी। पुनः न प्ररोहति=फिर नहीं उगता है।

अनुवाद—अहङ्कारी इस रावण के द्वारा (अपनी) चतुर विलासिनी स्त्रियों के योग्य गजदन्तमय कर्णाभरण बनाने की इच्छा से, निश्चयतः कभी उखाड़ा गया गणेश जी का एक दाँत आज भी (बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी) फिर नहीं उग रहा है।

भावार्थ—उस अहंकारी रावण ने जो एकबार कभी गणेश जी का एक दाँत इसलिये उखाड़ लिया था क्योंकि वह उनके गजदन्त से अपनी चतुर

विलासिनी स्त्रियों का कर्णाभूषण बनाना चाहता था, गणेश जी का वह दाँत अब भी इतना समय बीत जाने पर भी पुनः नहीं उग पाया है।

वस्तुतः पौराणिक कथानुसार तो गणेश जी का एक दाँत युद्ध करते समय टूट गया था किन्तु कवि ने रावण का घोर आतंक दिखाने के लिए यहाँ यह उत्प्रेक्षा की है कि मानो वह दाँत रावण ने ही उखाड़ लिया था जो अब तक फिर नहीं उग पाया है अत एव गणेश जी एक दन्त कहे जाते हैं।

समास विग्रहादि—मानोऽस्यास्तीति मानी तेन मानिना। विदग्धा लीला यासां ताः विदग्धलीलाः (चतुर विलासिन्यः, तासामुचिता इति विदग्धलीलोचिताः ताश्च ताः दन्तपत्रिकाश्चेति विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाः, विधातुमिच्छा विधित्सा, विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाणां चिधित्सा तया विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया। विनायकस्येदं वैनायकम्।

संस्कृत टीका—मानिना-अहङ्कारिणा, अनेन-रावणेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया=चतुरविलासिनीधारणयोग्यगजदन्तमयकर्णाभरणनिर्माणेच्छया, नूनम्-निश्चितम्, जातु-कदाचिदपि, उद्धृतम्=उत्पाटितम् वैनायकम्=विनायकसम्बन्धि, एकम्-एकतरम्, विषाणम्-दन्तः, अद्यापि=सम्प्रत्यपि बहुतिथे काले गतेऽपि, पुनः—भूयोऽपि, न प्ररोहति, न प्रादुर्भवति।

भावार्थ—स्वचतुरविलासिनीप्रियचिकीर्षुरय महङ्कारी रावणः तद्विलासोचितं गजदन्तमयकर्णाभूषणं निर्मातुमिच्छया जातुचित् विनायकस्यैकं दन्तमुत्पाटितवान्, बहुतिथे काले गतेऽपि स तस्य दन्तोऽद्यापि न पुनराविर्भवति। अत एव सोऽद्यापि एकदन्त इत्येवाभिधीयते।

व्याकरण—वि+धा+सन्+अ+टाप् तृतीयैकवचने—विधित्सया। प्रपूर्वात् रुह प्रादुर्भावे इत्यस्माल्लटि प्रथमपुरुषैकवचने-प्ररोहति। उद्+धृ क्त—उद्धृतम्। विनायकस्येदमिति विग्रहे विनायक शब्दादण्—वैनायकम्।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है क्योंकि यहाँ रावण को श्री गणेश का एक दाँत उखाड़ने वाला बतलाया गया है, और 'नूनम्' यह उत्प्रेक्षा वाचक शब्द है। वस्तुतः गणेश जी का एक दाँत युद्ध में टूटा था।

प्रसंग—रावण द्वारा वायुदेव को वशवर्ती बना लेने का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

निशान्तनारीपरिधानधूनन--
स्फुटागसाऽप्यूरुषु लोलचक्षुषः ।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः
प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ।।६१।।

अन्वय—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि ऊरुषु लोलचक्षुषः तस्य प्रियेण प्रकम्पनेन अनपराधबाधिताः सुराः अनुचकम्पिरे ।

शब्दार्थ—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा=अन्तः पुर की नारियों के अधोवस्त्रों के उड़ाने से स्पष्ट अपराधी, अपि=भी, ऊरुषु=(नारियों के) जंघाओं पर, लोलचक्षुषः=सतृष्ण नेत्रों वाले, तस्य=रावण के, प्रियेण=प्रिय, कृपापात्र, प्रकम्पनेन=वायु के द्वारा, अनपराधबाधिताः=बिना अपराध के पीड़ित किये गये, सुराः=देवता, अनुचकम्पिरे=अनुगृहीत करा दिये गये अर्थात् उन पर कृपा करा दी गई ।

अनुवाद—अन्तः पुर की नारियों के अधोवस्त्रों के (धूनन उड़ना, आगस् =अपराध। उड़ाने के स्पष्ट अपराधी भी, (नारियों के) जंघाओं पर सतृष्ण नेत्र वाले उस रावण के कृपापात्र वायु के द्वारा बिना अपराध के दण्डित देवता अनुगृहीत करा दिये गए अर्थात् रावण के द्वारा उन पर कृपा कर दी गई ।

भावार्थ—रावण के अन्तःपुर की नारियों के अधः वस्त्रों को वायु उड़ाता था और विलासी रावण उनकी नग्न जंघाओं को देखने के लिए सतृष्ण रहता था । अधोवस्त्रों को उड़ाकर यद्यपि वायु स्पष्ट रूप से अपराध करता था तथापि इस क्रिया से विलासी रावण को नारियों की नग्न जंघाओं को देखने का अवसर मिलता था जिसे वह स्वयं देखने के लिये लालायित रहता था । अतः वायु उसका मित्र बन गया था, फलतः जब देवता बिना अपराध दण्डित किये जाते थे तो वायु रावण से प्रार्थना करके उन्हें क्षमा करा देता था, इस प्रकार वायु के कारण देवताओं को कभी-कभी छुटकारा मिल जाता था । तात्पर्य यह कि रावण ने अन्य देवताओं की भाँति वायु को भी वशवर्ती बना लिया था ।

समास विग्रहादि—निशान्ते या नार्यः निशान्तनार्यः तासाम् परिधानानां धूननेन स्फुटं आगो यस्य स तेन निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा ।

लोले चक्षुषी यस्यासौ तस्य लोलचक्षुषः। अनपराधे वाधिताः अनपराध-वाधिताः ।

संस्कृत टीका—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा = अन्तःपुरविलासिनीजनाधोवस्त्रसञ्चालनव्यक्ताप राधिना, अपि, ऊरुषु = सक्थिस्थलेषु, लोलचक्षुषः = सतृष्णनेत्रस्य, तस्य = रावणस्य, प्रियेण = कृपापात्रेण, प्रकम्पनेन = वायुना, अनपराधवाधिताः = विनापराधं दण्डिताः, सुराः = देवाः, अनुचकम्पिरे = अनुगृहीताः ।

संस्कृत सरलार्थ—अन्तःपुरविलासिनीजनाना मधोवस्त्रपरिचालनेन व्यक्तापराधोऽपि वायुः, अन्तःपुरस्त्रीजननग्न जघनस्थलदर्शने समुत्सुकस्य विलासिनः रावणस्य कृपापात्र मासीत्, फलतः रावणस्य प्रियेण वायुना विनापराधं वन्धनग्रस्ता दण्डिताश्च सुराः प्रार्थनादिना अनुगृहीताः, अर्थात् स्वप्रियेण वायुना प्रार्थ्यमाणेन रावणेन ते देवा दण्डान् मुक्ताः ।

व्याकरण—धूञ् धातो र्ण्यन्ताल्ल्युट् प्रत्यये नुगागमे च धूननम् । अनु + कम्प् + लिट्—अनुचकम्पिरे ।

प्रसंग—अग्नि देव पर रावण कृत विजय का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

तिरस्कृत स्तस्य जनाभिभाविना,
मुहु र्महिम्ना महसां महीयसाम् ।
बभार वाष्पै र्द्विगुणीकृतं तनु—
स्तनूनपाद्धूमवितान माधिजैः ।। ६२ ।।

अन्वय—तस्य जनाभिभाविना महीयसां महसां महिम्ना मुहुः तिरस्कृतः (अतएव) तनुः तनूनपात् आधिजैः वाष्पैः द्विगुणीकृतम् धूमवितानम् वभार ।

शब्दार्थ—तस्य = रावण के । जनाभिभाविना = जन समूह का तिरस्कार करने वाले । महीयसाम् महसाम् = अति महान् तेजों के । महिम्ना = महत्त्व से । मुहुः = वार वार । तिरस्कृतः = अभिभूत हुआ (अतएव) तनुः = कृश । तनूनपात् = अग्नि देव । आधिजैः = मनो व्यथाओं से उत्पन्न । वाष्पैः = आंसुओं से । द्विगुणी कृतम् = दुगुने किये गये । धूमवितानम् = धूम मण्डल को । वभार = धारण किया ।

अनुवाद—उस रावण के जन समूह को तिरस्कृत करने वाले (तथा) अति महान् तेजों के महत्व से बार-बार तिरस्कृत किये गये (अतएव) कृश अग्नि देव मनो व्यथाओं से उत्पन्न आंसूओं से दुगुने किये गये धूम्र मण्डल को धारण करते थे।

भावार्थ—रावण ने अपने अति प्रवल तेज से सभी तेजस्वी देवों को तिरस्कृत कर रखा था, अग्नि देव भी रावण के इस प्रकार के महान् तेज से बार-बार तिरस्कृत हुये थे अतएव वे अतिक्षीण हो गये थे। रावण कृत तिरस्कार से होने वाली मनो व्यथाओं से दुःखी होकर वे आँसू भी बहाते थे, अतएव जलते समय उनसे बड़ा धूम्र मण्डल उठता था। एक तो अग्नि के क्षीण होने से ही अधिक धुआं निकलता है और यदि उसमें कुछ पानी डाल दिया जाय तव तो और भी अधिक धुआं निकलता है। कवि कल्पना है कि क्षीण भी अग्नि ने अपने आंसू गिराकर बहुत बड़ा धूम्र मण्डल धारण कर लिया था।

समास विग्रहादि—जनम् अभिभवति इति जनाभिभावी तेन जनाभिभाविना। तनूम् न पातयति इति तनूनपात्। धूमस्य वितानम् धूमवितानम् तत् धूमवितानम्। आधिभ्यः जातानि आधिजानि तैः आधिजैः।

संस्कृत टीका—तस्य=रावणस्य, जनाभिभाविना=लोकतिरस्कारिणा, महीयसाम्=अतिमहताम्, महसाम्=तेजसाम्, महिम्ना=महत्त्वेन, मुहुः=भृशम्, तिरस्कृतः=अभिभूतः, (अतएव) तनुः=दुर्बलः, तनुनपात्=अग्निः, आधिजैः=मनोव्यथासमुत्पन्नैः: वाष्पैः=अश्रुभिः, द्विगुणी कृतम्=द्विरावृत्तम्, धूमवितानम्=धूममण्डलम्, बभार=दधार।

संस्कृत सरलार्थ—महापराक्रमी रावणः तेजस्विश्रेष्ठः अथ च लोकाभिभावी आसीत्, नैके शक्तिशालिनो देवाः अनेन बलात् स्ववशमानीताः तत्सेवावृत्तिं चक्रुः। अग्निदेवोऽप्यनेन भृशं तिरस्कृतो भूत्वा दुःख मवाप, अनेन दुःखेन सोऽतिकृशतां प्राप्तः मनोव्यथाञ्चान्वभवत्। अनेन मनोव्यथासमुत्पन्नेन दुःखेन स भृशं रुरोद, एवं तस्याश्रुपातेन द्विगुणीभूतं स धूम्रमण्डलं दध्रे। अर्थात् अग्निरपि तत्समक्षं निस्तेजस्को धूमायमान आसीत्।

व्याकरण—जन+अभि+भू+णिनि—जनाभिभावी, तृतीयैक वचने—जनाभिभाविना। महत्+ईयसुन् षष्ठी बहुवचने—महीयसाम्। महस्+

+इमनिच् तृतीयैकवचने—महिम्ना। तनुं न पातयति इति तनूनपात् "न भ्राट्नपा दित्यादिना' निपातनात् न लोपाभाव:। द्वौ गुणौ आवृत्ती यस्य स द्विगुण: अद्विगुण द्विगुणं सम्पद्यमानं कृत मित्यर्थे कृ योगे द्विगुणशब्दात् च्वि: क्त प्रत्यये—द्विगुणीकृतम्। भृ+ लिट् प्रथमपुरुषैकवचने—बभार। तिरस्+कृ+क्त=तिरस्कृत:।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में धूम के द्विगुणित होने रूप असम्बन्ध में सम्बन्ध बतलाया गया है अत: असम्बन्धे सम्बन्धलक्षणा अतिशयोक्ति है। मल्लिनाथ ने प्रस्तुत श्लोक के 'वाष्पै:' पद का अर्थ—निश्श्वासोष्मभि: अर्थात् नि:-श्वासों की ऊष्मा किया है पर कुछ आचार्यों ने उसका अर्थ—'अश्रुभि: किया है, यद्यपि अर्थ दोनों ही संघटित होते हैं पर यहाँ अश्रुभिः अर्थ ही ग्रहण किया गया है।

प्रसंग—रावण द्वारा नाग लोकादि पर विजय प्राप्ति का वर्णन करते हुए नारद कहते हैं—

परस्य मर्माविध मुज्झतां निजं
द्विजिह्वतादोष मजिह्मगामिभि:।
तमिद्ध माराधयितुं सकर्णकै:
गणै र्न भेजे फणिनां भुजङ्गता॥ ६३॥

अन्वय—इद्धम् तम् आराधयितुम् परस्य मर्माविधम्, निजम् द्विजिह्वता-दोषम् उज्झताम् फणिनाम् अजिह्मगामिभि: सकर्णकै: कुलै: भुजङ्गता न भेजे।

शब्दार्थ—इद्धम्=दीप्तिमान् अर्थात् उग्र तेजवाले। तम्=उस रावण को। आराधयितुम्=सेवित करने के लिये अर्थात् रावण की सेवा करने के के लिये, निजम्=अपने। (प्रस्तुत श्लोक के विशेषण वाची पद प्राय: द्वयर्थक हैं इनका एक अर्थ में सर्पों के साथ तथा द्वितीय अर्थ में खल या पिशुन जनों के साथ अन्वय होता है अत: इनका प्रथम अर्थ सर्पों के साथ तथा द्वितीय अर्थ खलों के साथ अन्वित है। परस्य=दूसरे लोगों के। मर्माविधम्=हृदयादि मर्मस्थलों को वेधने वाले (खल पक्ष में) कुल के आचार व्रत आदि को तोड़ने वाले। द्विजिह्वतादोषम्=दो जीभ रखना रूप दोष को—सर्पों के दो

जीभ होती हैं, यह प्रसिद्ध है (खल पक्ष में)। द्विजिह्वता=पिशुनता अर्थात् चुगली आदि से भरीं दो प्रकार की बातें करना खलों का स्वभाव होता है कि किसी से कुछ और दूसरे से और कुछ कह कर झगड़ा करा देते हैं, इस प्रकार के पिशुनता दोष को। उज्झताम्=त्याग देने वाले। फणिनाम् =सर्पों के। अजिह्मगामिभिः=अजिह्म अर्थात् अवक्र सीधे मार्ग से चलने वाले (सर्प स्वभावतः कुटिल गति या वक्र गति से चलता है) (खल पक्ष में) कपट रहित आचरण करने वाले। सकर्णकैः=कर्ण अर्थात् श्रोत रखने वाले (सर्पों के कान नहीं होते वे सुनना और देखना केवल अपनी आंखों से ही करते हैं अतएव उनको चक्षुःश्रवा अर्थात् नेत्र ही जिनके कान हैं, कहा जाता है। इस समय रावण के शासन में आकर उन्होंने कर्ण धारण कर लिये थे जिससे कि वे अपने कर्तव्यों को या उनको दी गई आज्ञा को भली-भांति सुनकर उसका यथोचित रूप से पालन कर सकें अर्थात् अब वे अपना चक्षुः श्रवत्व छोड़कर सकर्णक (कान सहित) हो गये थे। (खलों के पक्ष में) सकर्णकैः का अर्थ है नियामक सहित, कर्णक उन्हें कहा जाता है जो कि प्रत्येक बात को सुनते हैं पर सभी बातों से प्रभावित नहीं होते अर्थात् पिशुन या खलजनों की बातों से प्रभावित नहीं होते, इस दृष्टि से कर्णकेन सह वर्तन्ते तैः सकर्णकैः का अर्थ है नियामक सहितैः अर्थात् नियामक रावण के नियन्त्रण में रहकर पिशुनजनों ने चुगली करना छोड़ दिया था। गणैः=समूह या वर्गों के द्वारा, भुजङ्गता=सर्पता अर्थात् सर्पों के भाव या गुण (खलपक्ष में) कुटिलता। न भेजे=न धारण की गई। अर्थात् रावण के नियन्त्रण में आकर सर्पों ने अपने स्वाभाविक गुणों का तथा खलों ने अपनी पिशुनता और कुटिलता को छोड़ दिया था।

अनुवाद—इस श्लोक के विशेषण वाची पद द्वयर्थक हैं, प्रथम अर्थ का अन्वय सर्पों के साथ और अन्यत्र, पद के द्वारा सूचित द्वितीय अर्थ का अन्वय खलजनों के साथ है, श्लोक का अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है—

उस उग्र तेजस्वी रावण की सेवा करने के लिये, दूसरो के (हृदयादि) मर्मस्थलों को विद्ध करने वाले (अन्यत्र) स्वकीय कुलाचार व्रतादि को तोड़ने वाले, द्विजिह्वता दोष अर्थात् दो जीभ वाले होना रूप दोष को (सर्प जन्मतः द्विजिह्व ही होते हैं) (अन्यत्र) पिशुनता रूप दोष को (चुगल

खोर सर्पों की भाँति दो जीभ रखते हैं क्योंकि वे एक मुख से दो तरह की बातें करते हैं) त्याग देने वाले सर्पों के (खलों के भी) सीधे मार्ग से चलनेवाले (अन्यत्र) कपट रहित आचरण करने वाले, कर्णकैः अर्थात् चक्षुः श्रवत्व को छोड़कर कर्ण धारण करने वाले, (अन्यत्र) कर्णक अर्थात् नियामक सहित (यहाँ नियामक का अर्थ नियन्त्रण रखने वाला रावण है) गणों अर्थात् वर्गों द्वारा सर्पता (सर्पों के स्वभाव और गुणों को) (अन्यत्र) कुटिलता को धारण नहीं किया गया तात्पर्य यह कि रावण के नियन्त्रण या सेवा में रहकर सर्पों ने अपनी सर्पता को एवं खलों ने अपनी कुटिलता को छोड़ दिया था।

भावार्थ—रावण ने नागों पर तथा खलों पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया था इसीलिये उसके नियन्त्रण में रहकर सर्पों ने अपनी द्विजिह्वता (दूसरों के मर्मस्थल को भेदना) वक्रगति एवं चक्षुः श्रवता को छोड़कर सरलता सरलगति एवं सकर्णता को धारण कर लिया था, इसी प्रकार खलजनों ने भी अपनी पिशुनता, कुटिलगति एवं दुष्टता को छोड़कर सरलता, सदाचार-पूर्ण जीवन पद्धति, तथा नियन्त्रण में रहना सीख लिया था।

समास विग्रहादि—मर्माणि विध्यति असौ मर्मविध् तम् मर्माविधम्। जिह्मं गच्छन्ति ये ते जिह्मगामिनः न जिह्मगामिनः अजिह्मगामिनः तैः अजिह्मगामिभिः। द्वे जिह्वे येषान्ते द्विजिह्वाः तेषां भावः द्विजिह्वता तस्यां दोषः तम् द्विजिह्वतादोषम्। कर्णैः सह वर्तन्ते सकर्णकास्तैः सकर्णकैः अन्यत्र कर्णयन्ति ये ते कर्णकाः तैः सहिताः तैः सकर्णकैः।

संस्कृत टीका—इद्धम्=दीप्तिमन्तम् उग्रतेजसमित्यर्थः, तम्-रावणम्, आराधयितुम्=सेवितुम्, निजं=स्वकीयम्, परस्य=अन्यस्य, मर्माविधम्=हृदयादिमर्मस्थलवेधकम्, अन्यत्र—कुलाचारादिभेदकम्, द्विजिह्वतादोषम्=सर्पजातिस्वाभाविकं विषादिदोषम् (अन्यत्र) पिशुनतादोषम्, उज्झताम्=त्यजताम्, फणिनाम्=सर्पाणाम्, अजिह्मगामिभिः=ऋजुगामिभिः (अन्यत्र) सरलाचारपूर्णमार्गगामिभिः, सकर्णकैः=चक्षुः श्रवत्वं विहाय धृतकर्णविवरैः (अन्यत्र) सनियामकैः, गणैः=समूहैः, भुजङ्गता=सर्पता (अन्यत्र) पिशुनता कुटिलता वा, न भेजे=न सिषेवे अर्थात् सा सर्वथैव परित्यक्ता।

संस्कृत सरलार्थ—सर्पाः खलाश्च रावणस्य नियन्त्रणे आसन्, अतः ते तेजस्विनं तं रावण माराधयितुम् स्वस्वाभाविकं द्विजिह्वतादोषं परित्यक्तवन्तः।

सर्पास्तु परस्य मर्मस्थलवेधकं स्वकीयं सहजं दोष मपहाय ऋजुगामिनः चक्षुःश्रवताञ्चापहाय सकर्णका भुजङ्गतारहिता जाताः, खलाश्च स्वकीयं परस्य कुलाचारव्रतादिभेदक स्वाभाविकं दोषं परित्यज्य सरलगतयः सनियामकाश्च बभूवुः। अर्थात् रावणनियन्त्रितैः सर्पैः सर्पता परित्यक्ता खलैश्च रावणसेवा-निरतैः स्वकीया कुटिलता परित्यक्ता।

व्याकरण—इन्धी दीप्तौ इत्यस्माद्धातोः कर्तरि क्त प्रत्यये द्वितीयैक वचने-इद्धम्। आ+राध्+णिच्+तुमुन्=आराधयितुम्। मर्माणि विध्यतीति विग्रहे मर्मन्+व्यध् धातोः क्विप्, ग्रहिज्येत्यादिना सम्प्रसारणेन यकारस्ये कारे 'नहिवृतीत्यादिना' पूर्वस्य दीर्घे द्वितीयैकवचने—मर्माविधम्। उज्झ् धातोः शतृ प्रत्यये षष्ठी बहुवचने–उज्झताम्। अजिह्म+गम्+णिनि तृतीया बहु-वचने-अजिह्मगामिभिः। कर्णाभ्यां सह वर्तन्ते इति विग्रहे 'तेन सहेति तुल्य-योगे' इति बहुव्रीहि समासे, "शेषाद्विभाषेति कप् प्रत्यये—सकर्णकैः अन्यत्र कर्णयति यः स कर्णकः कर्ण इत्यस्मात् ण्वुल् प्रत्ययः ततः पूर्ववत्समासे कृते—सकर्णकैः। भुजै र्गच्छन्तीति भुजङ्गाः (भुज+गम्+खच्) तेषां भावः भुगङ्-गता (भुजङ्ग+तल्) भज्+लिट् प्रथम पुरुषैक वचने—भेजे।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में प्रकृत सर्प से द्वयर्थक विशेषणों द्वारा अप्रकृत खल के व्यवहार की अभिव्यक्ति होने से समासोक्ति अलंकार है।

तदीय मातङ्गघटाविघट्टितैः,
कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः।
गृहीतदिक्कै रपुनर्निवर्तिभि
चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः॥६४॥

अन्वय=तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः गृहीत-दिक्कैः अपुनर्निवर्तिभिः दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यम् अलम्भि।

शब्दार्थ—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः=उस (रावण) के गजव्यूहों (समूहों) से ताडित (अत एव) कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः=जिनके कपोल-स्थलों से मदजल सूख गये हैं (तथा) गृहीतदिक्कैः=जिन्होंने (भागकर) दिशाओं को ग्रहण कर लिया है अर्थात् जो अपनी अपनी दिशाओं में स्थित हो गये हैं, (और भय के कारण) अपुनर्निवर्तिभिः=जो फिर नहीं लौटे हैं

(ऐसे) दिग्गजैः=दिग्गजों ने, चिराय=बहुत काल तक, यथार्थ्यम् अलम्भि= यथार्थता अर्थात् सार्थकता को प्राप्त किया ।

अनुवाद—उस (रावण) के गज समूहों द्वारा ताडित (अत एव) जिनके कपोल स्थलों से मदजल सूख गया है (और जो भागकर अपनी-अपनी) (दिशाओं में स्थिर हो गये हैं, (और भयवश) जो पुनः नहीं लौटे हैं (ऐसे) दिग्गजों ने बहुत समय तक (अपने दिग्गज इस नाम की) सार्थकता या यथार्थता को प्राप्तकर लिया है ।

भावार्थ—रावण के गजों से ताडित होकर जब दिग्गज इधर-उधर भय वश दिशाओं में भाग गये और फिर कभी लौट कर नहीं आये अर्थात् उसी दिशा में रहने लगे तभी से वे अपने दिग्गज इस नाम की यथार्थता को प्राप्त हुये ।

कहा जाता है कि पहले दिग्गज स्वतन्त्रता पूर्वक इधर-उधर निश्चिन्त घूमा करते थे पर जब रावण के हाथियों ने उन्हें ताडित किया तो उनका मदजल जोकि सदा प्रवाहित होता रहता था, सूख गया और वे बचने के लिये दिशाओं में भाग गये, जो दिग्गज भागकर जिन दिशा में गया और वह फिर वहीं रहने लगा अर्थात् पुनः लौट कर नहीं आया, वह उसी दिशा का दिग्गज कहा जाने लगा, इस प्रकार पहले तो वे केवल नाम मात्र के दिग्गज थे पर अब उन्हें अपने नाम की सच्ची सार्थकता प्राप्त हो गयी थी और वह आज भी वैसी ही बनी है । अब आठ दिशाओं के आठ दिग्गज माने जाते हैं जिनके नाम और दिशायें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

ऐरावत—पूर्वदिशा,	अञ्जन—पश्चिम दिशा
सार्वभौम—उत्तर दिशा	वामन—दक्षिण दिशा
पुण्डरीक—अग्नि कोण (दक्षिण पूर्व)	कुमुद—नैऋत्य कोण-दक्षिण पश्चिम
पुष्पदन्त—वायव्य कोण-उत्तर पश्चिम ।	सुप्रतीक—ईशान कोण-पूर्वोत्तर ।

समास विग्रहादि—तस्येमे तदीयाः, तदीयाश्च ते मातङ्गाः तदीयमातङ्गाः तेषां घटाः, ताभिः विघट्टिताः तैः तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः । कटस्थलेभ्यः प्रोपितानि दानवारीणि येषान्ते कटस्थलप्रोपितदानवारयः तैः कटस्थल-प्रोपित दानवारिभिः । गृहीता दिशो यैस्ते गृहीतदिक्काः तैः गृहीतदिक्कैः ।

न पुनः निवर्तन्ते इति अपुनर्निवर्तिनः तैः अपुनर्निवर्तिभिः। यथार्थस्य भावः याथार्थ्यम्। दिशां गजाः तैः दिग्गजैः।

संस्कृत टीका—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः=रावणसम्बन्धिगजसमूहाभिहतैः, (अत एव) कटस्थलेभ्यः प्रोषितानि दानवारीणि येषान्ते तैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः = गण्डस्थलव्यपगतमदजलप्रवाहैः, गृहीतदिक्कैः= (पलाय्य) संश्रितदिगन्तैः, अपुनर्निवर्तिभिः=(भयवशात्) पुनरागमनविरहितैः, दिग्गजैः=ऐरावतादिभिः अष्टभिः दिशागजैः, चिराय=चिर कालम्, याथार्थ्यम्=दिग्गजेतिस्वनामसार्थकत्वम्, अलम्भि=अधिगतम्।

संस्कृत सरलार्थ—रावणस्य गजघटाभिरभिहता दिग्गजा यतो भयवशात् पलाय्य दिशो जग्मुः तत्रैव चात्मरक्षार्थं स्थिताः ततो न पुनरागताः अत एव दिक्षु स्वाश्रयगृहणात्ते अन्वर्थनामानो जाताः।

व्याकरण—गृहीताः दिशो यैस्ते इति विग्रहे, वहुव्रीहि समासे, 'शेषाद्विभाषेति कप् प्रत्यये—गृहीतदिक्काः तृतीयावहुवचने—गृहीतदिक्कैः। ण्यन्ताल्लभधातोः कर्मणि लुङि 'विभाषा चिण्णमुलोरिति पक्षे नुमागमे-अलम्भि। प्र+वस्+क्त प्रत्यये सम्प्रसारणे चकृते—प्रोषितम्। दिक्षु विद्यमाना गजा दिग्गजाः इति विग्रहे दिग्गजशब्दस्य शाकपार्थिवादिगणे पाठात् मध्यमपदलोपि समासे विद्यमान पदस्य लोपे तृतीया वहुवचने-दिग्गजैः। यथार्थस्य भावः इति विग्रहे यथार्थशब्दात् ष्यञ् प्रत्यये वृद्धौ च कृतायाम्-याथार्थ्यम्।

प्रसंग—सुराङ्गनाओं के साथ रावण की विलास क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

अभीक्षण मुष्णै रपि तस्य सोष्मणः
सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलै र्यथा।
सचन्दनाम्भःकणकोमलै स्तथा,
वपु र्जलार्द्रापवनै र्न निर्ववौ ॥६५॥

अन्वय—सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णम् उष्णैः अपि सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः यथा निर्ववौ तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न (निर्ववौ)

शब्दार्थ—सोष्मणः=(काम ज्वर की) ऊष्मा अर्थात् गर्मी से युक्त अर्थात् कामज्वरपीड़ित, तस्य=उस रावण का, वपुः=शरीर, अभीक्ष्णम्=

अत्यधिक, उष्णैः अपि, तप्त भी. सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः=इन्द्र की वन्दी अर्थात् वन्दीकृत देवाङ्गनाओं के निःश्वास अनिलों (वायु) से, यथा निर्ववौ =जैसा आनन्दित हुआ अर्थात् शान्ति को प्राप्त हुआ, तथा= वैसा, सचन्दनाम्भःकणकोमलैः=चन्दन सहित जलकणों से कोमल, जलार्द्रापवनैः=जल से सिक्त पंखों के पवनों से भी शान्ति को प्राप्त न हुआ।

अनुवाद—(काम ज्वर की) ऊष्मा से युक्त अर्थात् कामज्वर पीडित उस रावण का शरीर, अत्यधिक तप्त भी, इन्द्र की वन्दीकृत सुन्दरियों के निःश्वास वायुओं से जैसा आनन्दित हुआ, वैसा (वह) चन्दन सहित जलकणों से कोमल, जलसिक्त पंखों की वायुओं से भी आनन्दित न हुआ अर्थात् शान्त न हो सका।

भावार्थ—रावण ने अनेक सुराङ्गनाओं को वन्दी बनाकर अपनी सेवा में नियुक्त कर लिया था। वे चन्दन मिश्रित जलकणों से सिक्त पंखों से यद्यपि उस पर हवा करती थीं तथापि काम ज्वर पीड़ित उस रावण के शरीर को उतनी शान्ति न मिलती थी जितनी कि शान्ति उसे उन वन्दीकृत देवांगनाओं के शोक से उत्पन्न अति उष्ण निःश्वासों से मिलती थी। अर्थात् वन्दीकृत अतएव शोक सन्तप्त सुरांगनाओं के अत्युष्ण निःश्वासों से कामोन्मत्त रावण को सुख मिलता था—दुर्जन निरपराधियों को पीड़ित कर के ही सुख पाता है।

समास विग्रहादि—ऊष्मणा सह वर्ततेऽसौ सोष्मा तस्य सोष्मणः। सुरेन्द्रस्य वन्द्यः सुरेन्द्रवन्द्यः तासां श्वसितस्य ये अनिला इति सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलाः तैः सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः। चन्दनेन सहितानि सचन्दनानि तानि च तानि अम्भांसि इति सचन्दनाम्भांसि सचन्दनाम्भसाम् ये कणाः तैः कोमलाः तैः सचन्दनाम्भःकणकोमलैः। जलार्द्राणाम् पवनास्तै जलार्द्रापवनैः। "जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्" इस वैजयन्ती कोश के अनुसार जलार्द्रा का अर्थ जलसिक्त तालवृन्त या व्यजन है।

संस्कृत टीका—सोष्मणः=सन्तप्तस्य अर्थात् कामज्वरदाहपीडितस्य, तस्य=रावणस्य, वपुः=शरीरम्, अभीक्ष्णम्=भृशम्, उष्णैः=तप्तैः अपि, सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः=देवराजवन्दीकृतसुरसुन्दरीनिःश्वासवायुभिः, यथा =येन प्रकारेण, निर्ववौ=शान्तिं प्राप, तथा=तेन प्रकारेण, सचन्दनाम्भसां

कणैः कोमलास्तैः सचन्दनाम्भःकणकोमलैः=चन्दनमिश्रितवारिविन्दुमृदुलैः, जलार्द्रापवनैः=जलसिक्ततालवृन्तवायुभिः, न (निर्ववौ) न शान्ति मध्यगच्छत्।

संस्कृत सरलार्थ—रावणेन वन्दीकृताः अत एव तत्सेवानियुक्ताः सुरसुन्दर्यः यद्यपि स्मरदाहपीडितं तं रावणं चन्दनमिश्रितजलकणसिक्ततालवृन्तैस्तर्पयन्ति स्म तथापि तच्छरीरम् न तथा निर्वृतिमवाप यथा तच्छरीरं वन्दीभूताना मत एव शोकसन्तप्तानां सुरसुन्दरीणा मत्युष्णनिःश्वासमारुतैः शान्तिं ययौ। मदान्धो दुर्जनः परदुःखेनैव तृप्तिमायाति।

व्याकरण - निर्+वा+लिट् प्रथम पुरुषैकवचने—निर्ववौ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में कामसन्तप्त रावण का उपचार सुरसुन्दरियों के उष्ण निःश्वास को बतलाया गया है, अर्थात् सन्तप्त व्यक्ति के सन्ताप दूर करने का उपचार उष्ण निश्वास बतलाया गया है अर्थात् कारण के विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति बतलाई गई है अतः विषमालंकार है।

प्रसंग—रावण द्वारा वशीकृत षट् ऋतु भी उसकी मिल कर सेवा कर रहे थे, इसी वात को वतलाते हुये नारद जी कहते हैं—

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो
वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः
पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥६६॥

अन्वय—सदा प्रसूनक्लृप्तिम् दधतः ऋतवः वर्षाः तपेन, हिमागम शरदा, शिशिरः वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य अस्य पुरे वास्तव्यकुटुम्बिताम् ययुः।

शब्दार्थ—सदा=सर्वदा, प्रसूनक्लृप्तिम्=पुष्पसम्पत्ति को, दधतः=धारण करते हुए, ऋतवः=वसन्तादि षट् ऋतु, वर्षा=वर्षा ऋतु, तपेन=ग्रीष्म ऋतु के साथ, हिमागमः=हेमन्त ऋतु, शरदा=शरद ऋतु के साथ, शिशिरः=शिशिर ऋतु, वसन्तलक्ष्म्या=वसन्त शोभा के साथ, समेत्य=मिलकर, अस्य=इस रावण के, पुरे=नगर में, वास्तव्यकुटुम्बिताम् ययुः=सदा रहने वाले कुटुम्बियों का भाव प्राप्त कर लिया। अर्थात् सहवासी गृहस्थ बन गये थे।

अनुवाद—सर्वदा पुष्प समृद्धि को धारण करते हुए वसन्तादि ऋतु, वर्षा ग्रीष्म के साथ, हेमन्त शरद् ऋतु के साथ, और शिशिर वसन्त शोभा के साथ मिल कर इस रावण के नगर में अर्थात् लङ्का मे सहवासी गृहस्थों के भाव को प्राप्त हो गये थे। अर्थात् अधिवासी गृहस्थ वन गये थे।

भावार्थ—रावण की पुरी लंका मे षट् ऋतुओं की पुष्प समृद्धि एक साथ देखी जाती थी। सामान्यतः षट् ऋतु कहीं भी एक साथ कभी नहीं रहते, क्रम-क्रम से आते जाते हैं। पर रावण के आतङ्क के कारण उसे प्रसन्न करने के लिये लंका मे वे एक साथ ही न केवल आ गये थे अपितु वहाँ वे वहाँ के नागरिक तथा वहाँ के सद् गृहस्थ ही मानो बनकर रहने लगे थे, जैसे कोई सद् गृहस्थ विवाह कर अपने पूरे कुटुम्व के साथ कहीं का पूर्ण निवासी वन जाता था। कवि कल्पना है कि वर्षा ऋतु स्त्री) ने ग्रीष्म ऋतु (पुरुष) के साथ विवाह कर, शरद (स्त्री) ने हेमन्त (पुरुष) के साथ विवाह कर एवं वसन्त शोभा ने (स्त्री) शिशिर (पुरुष) के साथ विवाह कर गृहस्थ वनकर लंका में निवास किया था, अन्यथा लंका में सभी ऋतु एक साथ सदा कैसे रहते।

समास विग्रहादि—वसन्ति ये ते वास्तव्याः, वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनः वास्तव्यकुटुम्बिनः तेषां भावः ताम्—वास्तव्यकुटुम्बिताम्। वसन्तस्य लक्ष्मीस्तया—वसन्तलक्ष्म्या। हिमस्यागमः यस्मिन्-स हिमागमः। प्रसूनानां क्लप्ति स्ताम्—प्रसूनक्लृप्तिम्।

संस्कृत टीका-सदा=नित्यम् सर्वदैव, असमये समये चापि नतु यथा काल मेव। प्रसूनक्लृप्तिम्=पुष्पसम्पत्तिम्। दधतः=धारयन्तः। ऋतवः=वसन्तादिकाः षट् ऋतवः, वर्षाः=प्रावृट्, तपेन=ग्रीष्मर्तुना सह, हिमागमः=हैमन्तर्तुः, शरदा-शरदृतुना सह, शिशिरः=शिशिराख्यः ऋतुः, वसन्तलक्ष्म्या=वसन्तर्तुशोभया, समेत्य=दाम्पत्यभावेन मिलित्वा, अस्य=रावणस्य, पुरे=नगरे लंकायामित्यर्थः, वास्तव्यकुटुम्बिताम्=नगरनिवासि-गृहस्थभावम्, ययुः=प्रापुः।

संस्कृत सरलार्थ—लङ्कायां वर्षादिकाः ऋतवो ग्रीष्मादिभिः ऋतुभिर्मिथुनीभूय स्वयमेव सदा निवासं विदधुः, अतएव रावणपुर्यां सदैव सर्वर्तु

समृद्धीनां स्थिति रासीत्, सर्वर्तु सत्त्वादेव तस्य पुरं सदैव सर्वर्तु शोभा सम्पन्न मासीत् ।

व्याकरण—वस् + तव्यत् + कर्तरि + णिन् = वास्तव्याः । कुटुम्ब + इनि = कुटुम्बिनः । वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनः तेषां भावः इत्यर्थे तल् — वास्तव्य-कुटुम्बिता द्वितीयैक वचने—वास्तव्यकुटुम्बिताम् । या धातो लिटि प्रथम पुरुषबहुवचने — ययुः । धा धातोः शतृ प्रत्यये—दधतः । सम् + आ + इण् गतौ + क्त्वा–ल्यप् = समेत्य ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में समस्त ऋतुओं की एक ही पुरी में एक साथ विद्यमानता बतलाई गई है, अतः सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध कल्पना करने से यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है ।

प्रसंग—आपको अपनी मृत्यु का कारण जानते हुए भी रावण ने आप से विरोध किया क्योंकि वह मानधनी था, इसी बात को बतलाते हुए नारद जी कहते हैं—

अमानवं जात मजं कुले मनोः
प्रभाविनं भाविन मन्त मात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः
सदाऽभिमानैकधना हि मानिनः ॥ ६७ ॥

अन्वय—अमानवम् अजम् मनोः कुले जातम् प्रभाविनम् (भवन्तम्) आत्मनः अन्तम् भाविनम् जानन् अपि यः जानकीम् न मुमोच । मानिनः हि सदा अभिमानैकधनाः (भवन्ति) ।

शब्दार्थ—अमानवम् = मानवभिन्न अर्थात् अतिमानव । अजम् = जन्म रहित । मनोः = मनु के । कुले = कुल में । जातम् = उत्पन्न हुये । प्रभाविनम् = अति प्रभावशाली । (भवन्तम् = आपको) आत्मनः = अपना । अन्तम् = विनाशक । भाविनम् = होने वाला । जानन् अपि = जानता हुआ भी । यः = जिस रावण ने । जानकीम् = सीता को । न मुमोच = नहीं छोड़ा । हि = क्योंकि । मानिनः = मानीजन । सदा = सर्वदा । अभिमानैकधनाः = स्वाभि-मान को ही एक मात्र सम्पत्ति मानने वाले (भवन्ति = होते हैं) ।

अनुवाद—अतिमानव (तथा) अजन्मा (भी) मनु के वंश में उत्पन्न हुये अति प्रभावशाली (आपको) अपना विनाशक होने वाला जानते हुये भी जिस रावण ने जानकी को नहीं छोड़ा था, क्योंकि मानी जन सदा स्वाभिमान को ही एक मात्र सम्पत्ति समझने वाले होते हैं।

भावार्थ—रावण ने यह जानते हुए भी कि राम अजन्मा एवं मानवातीतशक्ति सम्पन्न हैं और अति प्रभावशाली भी हैं तथा इन्हीं के द्वारा मेरा अन्त भी होने वाला है, उनकी पत्नी जानकी का हरण किया और फिर जीवित रहते उन्हें न छोड़ा, क्योंकि वह मानधनी था अतएव प्राणार्पण करके भी वह अपनी प्रतिष्ठा को न खोना चाहता था।

समास विग्रहादि—न जायते इति अज स्तम् अजम्। अन्तं करोत्यन्तस्तम्-अन्तम्। जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी ताम् जानकीम्। मनोः अयम् मानवः न मानवः तम्-अमानवम्। अभिमान एव एकं धनं येषां ते अभिमानैकधनाः। मानोऽस्त्येषामिति मानिनः।

संस्कृत टीका—अमानवम्=अमानुषम् अतिमानवम् वा, अजम्=जन्म रहितम्, मनोः कुले=मनोः वंशे, जातम्=उत्पन्नम्, प्रभाविनम्=अति प्रभावशालिनम् (भवन्तम्) आत्मनः=स्वस्य। अन्तम्=अन्तकरम्, भाविनम् =भविष्यन्तम्, जानन्=अवगच्छन् अपि, यः=रावणः=जानकीम्= जनकपुत्रीम् सीताम्, न मुमोच=न मुक्तवान्, हि—यतः, मानिनः= मानशालिनो जनाः, सदा=सर्वदा, अभिमानैकधनाः=स्वाहङ्कारमात्रसाराः (भवन्ति)।

संस्कृत सरलार्थ—इत्यवगच्छन्नपि रावणो यद्रामचन्द्र एव तस्यान्तकरो भविष्यति, तत्पत्नीं जानकीं हृत्वा पुनः कथमपि नामुञ्चत् यतो हि मानिनो जनाः प्राणात्यये समुपस्थितेऽपि वरमसून् त्यजन्ति परं मानं न मुञ्चन्ति।

व्याकरण—मनोरयमिति विग्रहे "तस्येदमित्यण् प्रत्यये मानवः (अत्र जातावेकवचनम्) न मानव स्तम्—अमानवम्। न जायते इति विग्रहे "अन्येष्वपि दृश्यते" इति डप्रत्यये अजः द्वितीयैकवचने—अजम्। प्र+भू "आभीक्ष्ण्ये णिनिः" इति णिनि प्रत्यये अथवा प्रभावशब्दान्मत्वर्थीये इनि प्रत्यये प्रभावी-द्वितीयैकवचने-प्रभाविनम्। भू+णिनि=भावी द्वितीयैकवचने

भाविनम् । अन्तं करोत्यर्थे 'तत्करोति' इत्यादिना ण्यन्तात् पचाद्यच् प्रत्यये द्वितीयैकवचने—अन्तम् । ज्ञा+शतृ-प्रथमैकवचने—जानन् । मुच् लिटि प्रथम पुरुषैकवचने—मुमोच । जनक+अण्+ङीप् द्वितीयैकवचने जानकीम् ।

विशेष—प्राण चले जाने पर भी मानी जन मान नहीं छोड़ते हैं, यहाँ कारण द्वारा कार्य का समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

प्रसंग—रामावतार लेकर आपने रावण का वध किया था, इसी बात को वतलाते हुये नारद जी कहते हैं—

स्मरत्यदो दाशरथि भंवन्भवान्
अमुं वनान्ताद् वनितापहारिणम् ।
पयोधिमावद्धचलज्जलाविलं
विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥६८॥

अन्वय—भवान् दाशरथिः भवन् वनान्ताद् वनितापहारिणम् अमुम् आवद्धचलज्जलाविलम् पयोधिम् विलङ्घ्य लङ्काम् निकषा हनिष्यति-अदः (भवान्) स्मरति ।

शब्दार्थ—भवान्=आपने, दाशरथिः=दशरथ पुत्र (राम) भवन्= होते हुए, वनान्ताद्=वन प्रदेश से, वनितापहारिणम्=पत्नी (सीता) का अपहरण करने वाले, अमुम्=इस रावण को, आवद्धचलज्जलाविलम्= (सेतु) वाँधने के कारण चञ्चल जलवश कलुषित हुए, पयोधिम्=समुद्र को, विलङ्घ्य=लाँघ कर, लङ्काम् निकषा=लंका के पास, हनिष्यति=मारा था, अदः (भवान्) स्मरति=क्या आप इस बात का स्मरण करते हैं ।

अनुवाद—आपने, दशरथपुत्र अर्थात् राम, होते हुए (रामावतार धारण करके) वन प्रदेश से, वनिता अर्थात् पत्नी सीता का अपहरण करने वाले, इस रावण को, (सेतु) वाँधने से चञ्चल जल के कारण कलुषित-मलिन, समुद्र को लाँघकर लंका के समीप, मारा था, क्या यह आपको स्मरण है, अर्थात् क्या आप इस बात का स्मरण करते हैं ?

भावार्थ—नारद जी कहते हैं कि क्या आपको यह बात याद आ रही है कि आपने ही रामावतार में दशरथ पुत्र राम होकर वन से सीता का हरण करने वाले इस रावण को, समुद्र पार कर लंका के पास मारा था ।

समास विग्रहादि—वनिताम् अपहरति तच्छील: वनितापहारी तम्—वनितापहारिणम्। चलन्ति आविलानि च जलानि यस्यासौ चलज्जलाविल:, आवद्ध: (अत एव) चलज्जलाविलश्चेति आवद्धचलज्जलाविल: तम्—आवद्धचलज्जलाविलम्। दशरथस्य अपत्यं पुमान् दाशरथि:। वनस्य अन्त: वनान्तस्तस्मात् वनान्तात्। पयांसि धीयन्तेऽस्मिन्निति पयोधि: तम्-पयोधिम्।

संस्कृत टीका—भवान्=त्वम्, दाशरथि:=दशरथपुत्र: राम:, भवन्=सन्, वनान्तात्=वनमध्यात्, दण्डकारण्याख्यवनमध्यादित्यर्थ:, वनितापहारिणम्=स्वदारसीतापहर्तारम्, अमुम्=रावणम्, आवद्ध: अत एव चलन्ति आविलानि च जलानि यस्यासौ आवद्धचलज्जलाविलस्तम् आवद्धचलज्जलाविलम्=प्रक्षिप्तप्रस्तर सेतुवन्धनचञ्चलजलराशिकलुषम्, पयोधिम्=समुद्रम्, विलङ्घ्य, लङ्काम्=एतदाख्यां रावणपुरीम्, निकषा=समीपे, हनिष्यति =अवधीत्, अद:=एतत्, (भवान्) स्मरति=अभिजानाति किम्।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनि: कथयति, यदद्यापि किं भवानेतत् प्रत्यभिजानाति यद् भवान् श्रीकृष्ण एव रामावतारे दशरथपुत्र: राम इत्याख्यातो भूत्वा, वनान्तात् सीतापहर्तारमिमं रावणं समुद्रमुल्लङ्घ्य लङ्काया: समीपे अवधीत्।

व्याकरण—दशरथस्यापत्यं पुमानिति विग्रहे "अत इञ्" इति दशरथशब्दादिञ् प्रत्यये प्रथमैकवचने—दाशरथि:। भूधातो: शतृ प्रत्यये प्रथमैकवचने—भवन्। पयस्+धा+कि=पयोधि: द्वितीयैकवचने—पयोधिम्, अत्र पयांसि धीयन्तेऽस्मिन्नि विग्रहे "कर्मण्यधिकरणे चेति" कि प्रत्यय:। समीपार्थके निकषाशब्दयोगे "अभित: परित: समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" इति लङ्कामित्यत्र द्वितीया। हनिष्यतीत्यत्र 'अभिज्ञावचने लृट्' इति भूते लृट्लकारप्रयोग:।

प्रसंग—प्रस्तुत श्लोक में नारद जी बतला रहे हैं कि इसी रावण ने शिशुपाल के रूप में जन्म लिया है—

> **अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरा-**
> **मवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम्।**
> **तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया,**
> **प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः॥६९॥**

अन्वयः—अथ सम्प्रति छलनापरः एष शैलूषः भूमिकाम् इव अपराम् उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा (सन्) सः अपि परैः असः प्रतीयते ।

शब्दार्थ—अथ=रावण शरीर को त्यागने के अनन्तर, सम्प्रति=इस समय, छलनापरः=(दूसरों को) छलने अथवा धोखा देने में तत्पर, एष=यह, (रावण) शैलूषः=नट, भूमिकाम् इव=रूपान्तर या अन्य रूप के समान, अपराम्=दूसरी, उपपत्तिम्=जन्मान्तर को, अवाप्य=प्राप्त कर के, शिशुपालसंज्ञया=शिशुपाल के नाम से, तिरोहितात्मा=अपने स्वरूप को छिपाने वाला (होकर) सः अपि=रावण ही होकर भी, परैः=अन्य लोगों द्वारा, असः=उससे भिन्न ही अर्थात् रावण से भिन्न ही, प्रतीयते=ज्ञात होता है ।

अनुवाद—राक्षस शरीर छोड़ने के पश्चात्, इस समय, (दूसरों को) धोखा देने में तत्पर, यह रावण, नट रूपान्तर को जैसे, (वैसे ही) दूसरे जन्म को प्राप्त करके, (अर्थात् जैसे नट एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप को धारण कर लेता है, रावण ने अपने रावण रूप को छोड़कर अन्य (अर्थात् शिशुपाल) रूप को अपने दूसरे जन्म में धारण करके) शिशुपाल नाम से अपने स्वरूप को छिपाने वाला वही अर्थात् रावण होता हुआ भी, दूसरे लोगों के द्वारा असः अर्थात् रावण से भिन्न प्रतीत होता है ।

भावार्थ—जैसे कोई नट अपने एक रूप से एक दृश्य दिखाकर फिर दूसरे रूप को धारण कर लेता है और दूसरी भूमिका में उतर आता है और दर्शक उसे पहले व्यक्ति से भिन्न समझने लगते हैं ठीक इसी प्रकार रावण ने भी अपनी पूर्वदेह त्यागकर इस शिशुपाल के रूप में जन्म धारण किया है, इस प्रकार यद्यपि वह वही रावण ही है तथापि रूप और नाम बदल लेने के कारण वह रावण होता हुआ भी रावण से भिन्न जान पड़ता है । नारदजी के कहने का तात्पर्य यह है कि यह शिशुपाल वस्तुतः वही रावण ही है अतः जैसे आपने रावण का वध किया था वैसे ही आपको इसका वध करना चाहिये ।

समास विग्रहादि—तिरोहितः आत्मा येन स तिरोहितात्मा । शिशुपाल इति संज्ञा तया शिशुपालसंज्ञया । छलनायां पर इति छलनापरः । न सः इति असः अथवा स न भवति इति असः ।

संस्कृत टीका—अथ=रावणदेहत्यागादनन्तरम्, सम्प्रति=इदानीम्, छलनापर:=परप्रवञ्चनातत्परं:, एष=रावण:, शैलूष:=नट:, भूमिकाम्=रूपान्तरम् इव, अपराम्=अन्याम्, उपपत्तिम्=स्वरूपम् जन्मान्तरमित्यर्थ:, अवाप्य=प्राप्य, शिशुपालसंज्ञया=शिशुपालनाम्ना, तिरोहितात्मा प्रच्छन्नस्वरूप: (सन्) सोऽपि=स एव अर्थात् रावण एव (सन् अपि) परै:=अन्यलोकै:, अस:=तद्भिन्न: रावणदतिरिक्त इत्यर्थ:, प्रतीयते=अभिज्ञायते।

संस्कृत सरलार्थ -यथा कश्चिन्नट एकदृश्यादनन्तरमपरभूमिकां प्रविशन् स्वकीयं पूर्वरूपमपहाय रूपान्तरं धारयति, दर्शकाश्च तमन्यमेव नटमभिजानन्ति, तथैव रावणोऽपि पूर्वंराक्षसदेहं परित्यज्येदानीं मानुषविग्रहमास्थाय शिशुपालेत्याख्याविख्यात: सन् लोकैरन्य एव रावणाद् भिन्न एवाभिज्ञायते। परं छलनापरस्यास्य शिशुपालस्य दौर्जन्यन्तु तदेव अतोऽवश्यमेवायं हन्तव्यस्त्वयेति।

व्याकरण—उप+पद्+क्तिन् द्वितीयैक वचने—उपपत्तिम्। न स: इति अस: 'नञ्' इति नञ् समास:, अत एवात्र 'एतत्तदो:' इति न सुलोप:। अव्+आप्+क्त्वा—ल्यप्—अवाप्य। प्रतिपूर्वात् इण् गतौ इत्यस्माद् धातो: कर्मणि लट् प्रथम पुरुषैक वचने—प्रतीयते।

प्रसंग— शिशुपाल के स्वरूप का वर्णन करते हुये नारद जी कहते हैं—

स वाल आसीद वपुषा चतुर्भुजो
मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचन:।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकै-
रसंशयं सम्प्रति तेजसा रवि: ॥७०॥

अन्वय—स वाल: वपुषा चतुर्भुज: आसीत्, मुखेन पूर्णेन्दुनिभ: त्रिलोचन: (आसीत्)सम्प्रति युवा(सन्)कराक्रान्तमहीभृत् उच्चकै: तेजसा असंशयम् रवि:।

शब्दार्थ - स:=शिशुपाल, वाल:=शिशु ही अर्थात् वाल्यावस्था में ही, वपुषा=शरीर से, चतुर्भुज:=चार भुजाओं वाला, आसीत्=था, मुखेन=मुख से, पूर्णेन्दुनिभ:=पूर्ण चन्द्र सदृश (था) त्रिलोचन:=तीन नेत्रों वाला (था) सम्प्रति=इस समय, युवा=युवक (होकर) कराक्रान्तमहीभृत्=कर ग्रहण के द्वारा राजाओं को वशीभूत कर लेने वाला, (सूर्य पक्ष में) किरणों द्वारा पर्वतों को आक्रान्त करने वाला। उच्चकै: तेजसा=अत्यधिक तेज से, असंशयम्=नि:सन्देह, रवि:=सूर्य ही (अस्ति=है)।

अनुवाद—वह शिशुपाल बालक ही अर्थात् बाल्यावस्था में ही, शरीर से चार भुजाओं वाला था, मुख से पूर्ण चन्द्र तुल्य (था) (और) तीन नेत्रधारी था, इस समय तरुण होकर कर ग्रहण के द्वारा राजाओं को वशीकृत करने वाला (सूर्य पक्ष में) किरणों द्वारा पर्वतों को आक्रान्त करने वाला, अत्यधिक तेज से निःसन्देह (वह) सूर्य है।

भावार्थ—बाल्यावस्था में वह शिशुपाल शरीर से तो चार भुजाधारी और मुख से पूर्ण चन्द्र तुल्य था और उसके तीन नेत्र भी थे। इस समय युवावस्था में पहुच कर अत्यधिक तेजस्वी होने के कारण निःसन्देह वह सूर्य ही है, क्योंकि जैसे सूर्य अपने तेज से पर्वतों को आक्रान्त कर लेता है उसी प्रकार उसने अपने प्रवल प्रताप से कर ग्रहण के द्वारा राजाओं को वशीकृत कर लिया है।

समास विग्रहादि—चत्वारः भुजा यस्य स चतुर्भुजः। पूर्णः यः इन्दुः तेन तुल्यः इति पूर्णेन्दुनिभः। करैः आक्रान्ता महीभृतो येनासौ कराक्रान्तमहीभृत्। त्रीणि लोचनानि यस्य स त्रिलोचनः।

संस्कृत टीका—सः = शिशुपालः, बालः = शिशुः बाल्यावस्थायामेवेत्यर्थः, वपुषा = शरीरेण, चतुर्भुजः = चतुर्बाहुः, आसीत् = अभवत्, मुखेन = आस्येन, पूर्णेन्दुनिभः = पूर्णचन्द्रतुल्यः (आसीत्) त्रिलोचनः = त्रिनयनः (आसीत्) सम्प्रति = इदानीम्, युवा = तरुणः (सन् सः) कराक्रान्तमहीभृत् = करदीकृत-भूपालः (सूर्य पक्षे) किरणाक्रान्तपर्वतः, उच्चकैः तेजसा = अत्यधिक तेजसा प्रवलप्रतापेन च (स) असंशयं निःसंशयम्, रविः = सूर्य एव, अस्तीतिशेषः।

संस्कृत सरलार्थ—बाल्यावस्थायां स शिशुपालः भुजचतुष्टयधारी आसीत् अतः सः विष्णुरेव प्रतीयते स्म। मुखेन स पूर्णचन्द्रतुल्यः अथ च त्रिलोचन-धारी आसीत् अतः स शिव एव प्रतीयते स्म। सम्प्रति तरुणः सन् स सम-धिकतेजसा रविरेव प्रतीयते। अत एव तेन सर्वे एव राजानः तथैव करदीकृता यथा सूर्यः स्वकिरणैः पर्वतान् आक्रान्तान् करोति।

व्याकरण—मही + भृ धातोः क्विप् प्रत्यये-महीभृत्। अस धातो लंङि प्रथम पुरुषैकवचने–आसीत्। वपुषा मुखेन चेत्यत्र "येनाङ्गविकारः" इति तृतीया। तेजसेत्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया विभक्तिः। असंशयमित्यत्र-संशयस्याभावः इति विग्रहे अव्ययीभावः, अविद्यमानः संशयो यस्मिन् तदिति विग्रहे च बहुव्रीहिः।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक के 'कराक्रान्तमहीभृत्' पद में कर और महीभृत् शब्द श्लिष्ट हैं। तेज के कारण शिशुपाल में सूर्य की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः यहाँ श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षा है और 'पूर्णेन्दुनिभः' में उपमालंकार है. अतः यहाँ उपमा तथा उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है।

प्रसंग—शिशुपाल के लोकोत्तर प्रभाव का, जिससे कि उसने सभी देवता और दैत्य तथा राक्षसों को वश मे कर रखा था, वर्णन करते हुये नारदजी कहते हैं—

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसा—
मनुग्रहावग्रहयो र्यदृच्छया।
दशाननादीनभिराद्धदेवता—
वितीर्णवीर्यातिशयान् हसत्यसौ ॥७१॥

अन्वय—यदृच्छया स्वयम् सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहावग्रहयोः विधाता असौ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति।

शब्दार्थ—यदृच्छया = अपनी इच्छामात्र से, स्वयम् = अपने आप, सुरदैत्यरक्षसाम् = देवता दैत्य और राक्षसों के, अनुग्रहावग्रहयोः = कृपा और दण्ड का, विधाता = विधायक, करने वाला, असौ = यह शिशुपाल, अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् = जिन्हें आराधित देवताओं के द्वारा असाधारण पराक्रम दिया गया था, दशाननादीन् – रावण आदि के प्रति, हसति = हंसता है।

शब्दार्थ—स्वेच्छामात्र से ही अपने आप देवता दैत्य और राक्षसों के अनुग्रह तथा निग्रह का विधान करने वाला यह शिशुपाल उन रावण आदि के प्रति हंसता है जिन्हें आराधित-देवताओं द्वारा असामान्य पराक्रम दिया गया था।

भावार्थ—शिशुपाल के प्रभाव का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं कि शिशुपाल, इस समय, बिना किसी देवता आदि से वरदान प्राप्त किये ही, केवल अपनी इच्छा मात्र से ही सभी देवता दैत्य और राक्षसों का नियन्ता बना हुआ है वही इन सब पर यथावसर कृपा भी करता है और दण्ड भी देता है और उन रावण आदि राक्षसों का उपहास भी करता है जिन्होंने शिवादि देवताओं की आराधना करके ही उनसे बल प्राप्त किया था, वह

इन रावण हिरण्यकशिपु आदि याचकों की अपेक्षा अपने को असामान्य पराक्रमी मानता है, क्योंकि उसने किसी भी देवता की आराधना कर उनसे वल की याचना नहीं की है।

समास विग्रहादि—

सुराश्च दैत्याश्च रक्षांसि चेति सुरदैत्यरक्षांसि तेपां सुरदैत्यरक्षसाम्। अनुग्रहश्च अवग्रहश्च अनुग्रहावग्रहौ तयोः अनुग्रहावग्रहयोः। अभिराद्धाश्च ताः देवताः अभिराद्धदेवताः ताभिः वितीर्णः वीर्यस्य अतिशयः येपान्ते तान् अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्। दशानन आदि येपां ते दशाननादयः तान् दशाननादीन्।

संस्कृत टीका—यदृच्छया = स्वेच्छया (एव) स्वयम् = आत्मनैव, सुरदैत्यरक्षसाम् = देवदैत्यराक्षसानाम्, अवग्रहावग्रहयोः = निग्रहानुग्रहयोः प्रसाददण्डयोरित्यर्थः विधाता = विधायकः, असौ = शिशुपालः, अभिराद्धदेवताभिः वितीर्णः वीर्यातिशयः येपान्ते तान् अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् = समाराधितदेवदत्तासामान्यपराक्रमविशेपान्, दशाननादीन् = रावणादीन्, हसति = उपहसति।

संस्कृत सरलार्थ—जन्मत एव शिशुपालः स्वप्रभावातिशयमहिम्ना स्वेच्छयैव यथावसरं सर्वेपामेव देवदैत्यराक्षसानां प्रसाददण्डयो विधाता आसीत्। स तथाकथितपराक्रमशालिनां रावणादीना मुपहास मपि करोति, यतो हि तैः शिवादिसुराराधनया फलतः वरयाचनाद्वारेण तथाभूतोऽसामान्यपराक्रमः समुपलब्ध आसीत्, नासन् ते निसर्गत एव पराक्रमशालिनः इति।

व्याकरण—वि + धा + तृच् प्रथमैक वचने—विधाता।

प्रसंग—शिशुपालकृत उत्पीडा का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

वलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रवाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥७८॥

अन्वय—जिगीषुणा तेन वलावलेपात् अधुना अपि पूर्ववत् जगत् प्रवाध्यते सती योषित् इव सुनिश्चला प्रकृतिः भवान्तरेषु अपि पुमांसम् अभ्येति।

शब्दार्थ—जिगीषुणा=विजय की इच्छा रखने वाले, तेन=उस शिशुपाल के द्वारा, वलावलेपात्=बल के घमण्ड से, अधुना अपि=अब भी, पूर्ववत्=पहले की तरह, जगत् प्रवाध्यते=संसार को पीड़ित किया जा रहा है। सती योषित्=पतिव्रता स्त्री, इव=की भाँति, सुनिश्चला प्रकृतिः=अविचल स्वभाव, भवान्तरेषु अपि=अन्य जन्मों में भी, पुमांसम्=पुरुष को, अभ्येति=प्राप्त होती है।

अनुवाद—विजय की इच्छा रखने वाले उस शिशुपाल के द्वारा बल के घमण्ड से अब भी पहले ही की तरह जगत् को पीड़ित किया जा रहा है, (क्योंकि) पतिव्रता स्त्री की भाँति अविचल प्रकृति भी दूसरे जन्मों में (उसी) पुरुष को प्राप्त होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक पतिव्रता स्त्री दूसरे जन्म में भी अपने ही उसी पुरुष को प्राप्त होती है उसी प्रकार मानव का अटल स्वभाव भी उसको दूसरे जन्म में भी प्राप्त होता है, यही कारण है कि अपने पूर्व जन्म के रावण के स्वभाव को ही प्राप्त कर शिशुपाल इस जन्म में भी उसी प्रकार संसार को पीडित कर रहा है जैसा कि वह पूर्व जन्म में अपने रावण रूप में किया करता था। पूर्व जन्म में जो रावण का स्वभाव था वह इसके शिशुपाल रूप में भी विद्यमान है अत एव वह संसार को पीडित करता है। सती स्त्री की ही भाँति मानव प्रकृति भी दूसरे जन्म में भी उसके साथ जाती है वह उसे कभी नहीं छोड़ती है। शरीर बदलने पर भी प्रकृति नहीं बदलती।

समास विग्रहादि—वलस्य अवलेपः तस्मात् वलावलेपात्। जेतुम् इच्छुः जिगीषुः तेन जिगीषुणा। अन्ये भवाः भवान्तराणि तेषु भवान्तरेषु। अन्यार्थकेनान्तरशब्देन समासे अन्तरशब्दस्यैवोत्तरपदत्वम्, समस्ते च पदे नपुंसकस्यैव प्रयोगः यथा अन्या भार्या भार्यान्तरम्, अन्यः विप्रः=विप्रान्तरम्, अन्यो राजा राजान्तरम्।

संस्कृत टीका—जिगीषुणा=विजयेच्छुना, तेन=शिशुपालेन, वलावलेपात्=वलदर्पात्, अधुना अपि=इदानीमपि अस्मिन्नपि जन्मनीत्यर्थः, पूर्ववत्=पूर्वजन्मनि वत्, जगत्=भुवनम्, प्रवाध्यते=प्रपीड्यते। सती योषित् इव=पतिव्रता स्त्रीव, सुनिश्चला=अविचालनीया ध्रुवा, प्रकृतिः=स्वभावः, भवान्तरेषु=जन्मान्तरेषु अपि, पुमांसम्=पुरुषम्, अभ्येति=अनुधावति।

संस्कृत सरलार्थ—निसर्गत: प्रभावशालिना शिशुपालेनास्मिन्नपि जन्मनि तथैव भुवनमखिलं प्रपीड्यते यथा गतजन्मनि रावणरूपधारिणा तेन लोका: प्रपीडिता: एतेन विस्पष्टं प्रतिभाति यत्सुनिश्चलो मानवस्वभावो जन्मान्तरेष्वपि तथैव स्वकीयमेव पुरुष मनुधावति यथा सती स्त्री अन्यस्मिन्नपि जन्मनि स्वपुरुष मेवानुगच्छति ।

व्याकरण—जि + सन् + उप्रत्यय: तृतीयैकवचने–जिगीषुणा । प्र + बाध् कर्मणि लट् लकारे प्रथम पुरुषैकवचने–प्रबाध्यते ।

विशेष—"सतीव योषित् प्रकृति: सुनिश्चला' में उपमालंकार है, तथा पूर्वार्धगत विशेष अर्थ का उत्तरार्धगत सामान्यार्थ के द्वारा समर्थन किया गया है अत: अर्थान्तिरन्यास अलंकार है ।

प्रसंग—अत: शिशुपाल का वध करना आपका कर्तव्य है, इसी बात को बतलाते हुए नारदजी कहते हैं—

तदेन मुल्लङ्घितशासनं विधे—
र्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो
विपादनीया हि सतामसाधव: ॥७३॥

अन्वय—तत् विधे: उल्लङ्घितशासनम् एनम् कीनाशनिकेतनातिथिम् विधेहि । हि शुभेतराचारविपक्त्रिमापद: असाधव: सताम् विपादनीया: ।

शब्दार्थ—तत्=इस कारण से, विधे:=ब्रह्मा की, उल्लङ्घितशासनम्=आज्ञा को उल्लंघित करने वाले, एनम्=इस शिशुपाल को, कीनाशनिकेतनातिथिम्=(कीनाश=यमराज; निकेतन=सदन घर)=यमराज के सदन का अथिति, विधेहि=बनाइये, हि=क्योंकि, शुभेतराचारविपक्त्रिमापद:=शुभेतर आचार अर्थात् दुराचार से जिनकी आपत्तियां (स्वयं) परिपाक (अवस्था) को प्राप्त हो गई हैं (ऐसे) असाधव:=दुष्टजन, सताम् =सज्जनों द्वारा, विपादनीया:=मारे जाने योग्य हैं ।

अनुवाद—इस कारण से विधि के, शासन को उल्लंघित करने वाले इस शिशुपाल को (आप) यम सदन का अतिथि बनाइये अर्थात् इसका वध कर इसे यमलोक भेजिये । क्योंकि दुराचरण से जिनकी विपत्तियां (स्वयं) परि-

पाक (अवस्था) (पूर्णावस्था) को पहुँच चुकीं हैं (ऐसे) दुर्जन, सज्जनों द्वारा मारे जाने चाहिये।

भावार्थ—शिशुपाल संसार को उत्पीड़ित करने वाला है, अत एव विधि-विधान का उल्लंघन करने वाला है, अतः उसका वध कर आप उसे यमलोक भेजिये। अपने दुराचरण से ही जिनकी विपत्तियाँ स्वयं पूर्णता को प्राप्त हो चुकीं है, ऐसे दुष्टों को तो सज्जनों द्वारा मार ही डालना उचित है। तात्पर्य यह कि दुष्टों का विनाश तो उनके पापाचरण के परिपाक से ही हो जाता है, आप जैसे सज्जन पुरुष तो उनके विनाश में निमित्तमात्र ही होते हैं—दुष्टजन तो अपने पापों से ही मरते हैं सज्जन भले ही उनके विनाश के निमित्त वन जांय अतः यदि कोई सज्जन किसी दुष्ट का विनाश करता है तो उस पर क्रूरता आदि का दोपारोपण नहीं किया जा सकता, सज्जन तो सदा विधिविधान के साधन होते हैं।

समास विग्रहादि—उल्लङ्घितं शासनं येन स उल्लङ्घितशासन स्तम् उल्लङ्घितशासनम्। कीनाशस्य निकेतनम् तस्य अतिथिः तम् कीनाशनिकेतनातिथिम्। शुभात् इतरः शुभेतरः स चासौ आचारश्चेति शुभेतराचारः, विपाकेन निर्वृत्ताः विपक्त्रिमाः शुभेतराचारेण विपक्त्रिमा आपदः येषान्ते—शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः।

संस्कृत टीका—तत्=तस्मात् कारणात्, विधेः=ब्रह्मणः, उल्लङ्घशासनम्—अतिक्रान्ताज्ञम्, एनम्=शिशुपालम्, कीनाशनिकेतनातिथिम्=यमसदनातिथिम्, विधेहि=कुरु, हि=यतः, शुभेतराचारेण विपक्त्रिमा आपदो येषां ते शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः=दुराचरणपरिपक्वापदः, असाधवः=दुर्जनाः दुष्टाः, सताम्=साधूनाम्, विपादनीयाः=हन्तव्याः।

संस्कृत सरलार्थ—जगदुत्पीडकः समुल्लङ्घितविधिशासनोऽयं शिशुपाल स्त्वयावश्यमेव यमसदनातिथि विधेयः, यतो ह्ययमस्ति वध्यो भवादृशै विधि-विधानसाधनीभूतैस्सज्जनैः। दुष्टानां विनाशस्तु स्वपापाचरणेनैव परिपक्वतां याति, तद्विनाशकः सज्जनस्तु तद्वधे निमित्तमात्रमेव भवति। अतः स्वपापफलेनैव हतकल्पा दुष्टा यदि हन्यन्ते साधुभिः तर्हि न भवन्ति साधवः क्रूरतादिदोषास्पदम्। अतस्त्वयासाववश्यमेव हन्तव्यः।

व्याकरण—विधिशासनपदयोः परस्पराकांक्षत्वेऽपि उल्लङ्घितशासन-मित्यत्र गमकत्वात् समासः, नियमतः उल्लङ्घितविधिशासनमित्येव साधु। विपूर्वात् डुपचष्पाके इत्यस्माद् धातोः "ड्वितः क्त्रिः" इति क्त्रिप्रत्यये कृते "क्त्रेर्मम्नित्यमिति" तद्धिते मम् प्रत्यये—विपक्त्रिमाः। सतः मित्यत्र "कृत्यानां कर्तरि वा" इति कर्तरि षष्ठी, पक्षे तृतीया अपि। वि+धा+लोट् मध्यम पुरुषैक वचने—विधेहि। वि+धा+कि षष्ठ्येकवचने—विधेः।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में पूर्वार्धगत विशेषार्थ का उत्तरार्धगत सामान्यार्थ से समर्थन होने के कारण यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

प्रसंग—शिशुपाल के वध के द्वारा आप इन्द्र को प्रसन्न करें, इसी बात को बतलाते हुए नारद जी कहते हैं—

हृदय मरिवधोदया दुदूढ—
द्रढ़िम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्र—
द्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥७४॥

अन्वय—अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम पुरन्दरस्य हृदयम् पुनः घनपुलकपु-लोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् दधातु।

शब्दार्थ—अरिवधोदयात्=शत्रु (शिशुपाल) के वधरूप लाभ से, उदूढ-द्रढिम=(निश्चिन्ततावश) दृढ़ता को धारण करने वाला, पुरन्दरस्य=इन्द्र का, हृदयम्=हृदय, पुनः=फिर भी अर्थात् पूर्ववत्, घनपुलकपुलोमजाकुजाग्र-द्रुतपरिरम्भनिपीड़नक्षमत्वम्=सघन रोमाञ्च वाले (पुलोमजा) इन्द्राणी के स्तनों के अग्रभागों के शीघ्र आलिङ्गन द्वारा निपीडन (दवाना) की क्षमता को, दधातु=धारण करे।

अनुवाद—शत्रु (शिशुपाल) के वध रूप लाभ से (निश्चिन्ततावश) दृढ़ता को धारण करने वाला इन्द्र का हृदय फिर अर्थात् पूर्ववत्, सघन रोमाञ्च वाले शची के स्तनों के अग्रभागों के शीघ्र आलिङ्गन द्वारा निपीडन (मर्दन) की क्षमता को धारण करे।

भावार्थ—नारद जी कहते हैं कि शिशुपाल के वध से इन्द्र का हृदय जो कि शिशुपाल कृत उत्पीडन से विक्षुब्ध हो गया है, दृढ़ता को प्राप्त कर

सकेगा और मैं चाहता हूँ कि इस प्रकार सुदृढ़ एवं निश्चिन्त उनका हृदय, सघन रोमाञ्च युक्त शची के स्तनाग्र भागों के शीघ्र आलिंगन द्वारा निपीडन की योग्यता को प्राप्त करे। अर्थात् शिशुपाल के उपद्रवों से चित्तविक्षेप के कारण सर्व भोगों का परित्याग कर देने वाले देवराज अब आप की कृपा से निष्कण्टक होकर राज्योपभोग करें।

समास विग्रहादि—अरेः वधः एव उदयः अरिवधोदयः तस्मात् अरिवधोदयात्। उदूढ़ः द्रढ़िमा येन तत् उदूढद्रढ़िम। घनः पुलकः ययोस्तौ घनपुलकौ, पुलोम्नः जाता पुलोमजा, तस्याः कुचाग्रौ पुलोमजाकुचाग्रौ घनपुलकौ च तौ पुलोमजाकुचाग्रौ इति घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रौ तयोः यः द्रुतं परिरम्भः तेन यत् निपीडनम् तस्य क्षमत्वम् तत्-घनपुलकपुलोमजाकुचाग्र द्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम्।

संस्कृत टीका—अरिवधः एव उदयः तस्मात् अरिवधोदयात् = शत्रुविनाशरुपलाभात्, उदूढः द्रढ़िमा येन तत् उदूढद्रढिम = धृतदार्ढ्यम्, पुरन्दरस्य = इन्द्रस्य, हृदयम् = चित्तम्, पुनः = भूयोऽपि पूर्ववदित्यर्थः, घनपुलकौ यौ पुलोमजाकुचाग्रौ तयोः यः द्रुतं परिम्भः तेन यन्निपीडनम् तस्य क्षमत्वम् तत् घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् = सघनरोमाञ्चशचीस्तनाग्रसरभसालिङ्गनमर्दनशक्तताम्, दधातु = धारयतु।

संस्कृत सरलार्थ—नारदो मुनिः कथयति यच्छत्रुविनाशरुपाभ्युदयादिन्द्रस्य तद् हृदयं, यदिदानीं शिशुपालकृतेनोत्पीडनेन विक्षुब्ध मस्ति, दाढर्यं लप्स्यते। अथ च तद् दृढ़वक्षः स्थलं सघनरोमाञ्चशालिशचीस्तनपरिमर्दनक्षमतां यास्यति। शिशुपाल कृतोपद्रवैश्चित्तविक्षेपा दिन्द्रेण सर्वे स्वर्गसुलभा भोगाः परित्यक्ताः इदानीं भवदनुग्रहेण स पुनः स्वकीयभोगान् प्राप्नोतु। अतः शिशुपालं सत्वरं निहत्य महेन्द्रं समाश्वासयतु भवान्।

व्याकरण—उत्+वह+क्त सम्प्रसारणे कृते उदूढः, दृढ़ शब्दादिमनिच् प्रत्यये 'र ऋतो हलादे लंघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशे, प्रथमैकवचने द्रढिमा। उदूढ़ः द्रढिमा येन तत् उदूढद्रढिम। पुरः (पुराणि) दारयतीति पुरन्दरः तस्य पुरन्दरस्य—पुर+दृ धातोः 'पूः सर्वयोर्दारिसहोः' इति खच् प्रत्यये, 'खचि ह्रस्वः' इति उपधाह्रस्वे, 'वाचम्यमपुरन्दरौ च' इति निपातनात् अदन्त वात् मुमागमे च कृते—पुरन्दरः। धा धातोः लोटि—दधातु।

विशेष—उदूढद्रिढिम पद से प्रकट होने वाली दृढ़ता को निपीडन क्षमता का हेतु बतलाया गया है अतः यहां पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है। सम्बन्धे असम्बन्ध लक्षणा अतिशयोक्ति अलंकार भी है। वृत्यनुप्रासालंकार भी है और इन तीनों की यहाँ संसृष्टि है।

प्रस्तुत श्लोक में पुष्पिताग्रा नामक छन्द है जिसका लक्षण है "अयुजि न युगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा"। अर्थात् जिसके प्रथम तथा तृतीये चरणों में क्रमशः नगण, नगण, रगण, यगण के क्रम से १२–१२ वर्ण हों तथा द्वितीय और चतुर्थ पादों में नगण, जगण, जगण, रगण तथा अन्त में एक गुरु वर्ण के क्रम से १३–१३ वर्ण हों वह पुष्पिताग्रा नामक विषम छन्द होता है, यथा—

न ग ण	न ग ण	र ग ण	य ग ण	
। । ।	। । ।	ऽ । ऽ	। ऽ ऽ	
हृ द य,	म रि व,	धो द या,	दु दू ढ	प्रथम पाद

इसी प्रकार इसका तृतीय पाद भी है।

न ग ण	ज ग ण	ज ग ण	र ग ण	गुरु	
। । ।	। ऽ ।	। ऽ ।	ऽ । ।	ऽ	
द्र ढि म,	द धा तु,	पु नः पु,	र न्द र,	स्य	द्वितीय पाद

इसी प्रकार का इसका चतुर्थ पाद भी है।

प्रसंग— प्रस्तुत श्लोक में, इन्द्र का सन्देश कहकर नारद जी के चले जाने पर श्रीकृष्ण की शिशुपाल पर क्रुद्ध दृष्टि का वर्णन करते हुए महाकवि माघ कहते हैं—

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ—
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुना विन्दोः श्रियं विभ्रति।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति,
व्योम्नीव भ्रकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥ ७५ ॥

अन्वय—तस्मिन् सुरमुनौ इति वाचम् व्याहृत्य नभः उत्पतिते पुरः इन्दोः श्रियम् विभ्रति (सति) अथ ओम् इत्युक्तवतः चैद्यम् प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणः वदने व्योम्नि इव अनिशम् शत्रूणाम् विनाशपिशुनः केतुः भ्रकुटिच्छलेन आस्पदम् चकार।

शब्दार्थ—तस्मिन् सुरमुनौ=उन देवर्षि नारद के, इति वाचम् व्याहृत्य =इस प्रकार की इन्द्र सन्देशमयी वाणी को कहकर। नभः उत्पतिते= आकाश में उड़ जाने पर अर्थात् स्वर्ग को प्रस्थान कर जाने पर। पुरः= सामने ही। इन्द्रोः श्रियम् बिभ्रति सति=चन्द्रमा की शोभा को धारण करते हुए होने पर। अथ=मुनि वचन के अनन्तर। ओम् इत्युक्तवतः=हाँ ऐसा ही होगा इस प्रकार स्वीकृति-वचन) कहने वाले। चैद्यं प्रति क्रुद्धस्य =चेदि जनपदों के राजा (शिशुपाल) के प्रति क्रोधित हुये। शार्ङ्गिणः= श्री कृष्ण के। वदने=मुख पर। व्योम्नि इव=आकाश के समान। अनिशम्=सर्वदा ही। शत्रूणाम्=शत्रुओं के। विनाशपिशुनः=विनाश के सूचक। केतुः=केतु ग्रह ने। भ्रकुटिच्छलेन=भ्रूभङ्ग के वहाने से। आस्पदम् चकार=स्थान ग्रहण किया।

अनुवाद—उन देवर्षि नारद के इस प्रकार की (इन्द्र सन्देशमयी) वाणी को कहकर अर्थात् इन्द्र का सन्देश सुना कर, आकाश में चले जाने पर (तथा) सामने ही चन्द्र की शोभा को धारण करते हुए होने पर, मुनि वचन के अनन्तर, हाँ ऐसा ही होगा, इस प्रकार (स्वीकृति-वचन) कहने वाले, (और) चेदि जनपदों के राजा (शिशुपाल) के प्रति क्रोधित हुये श्रीकृष्ण के आकाश के समान मुख पर सर्वदा ही शत्रुओं के विनाश के सूचक केतु ग्रह ने भ्रूभङ्ग के व्याज से स्थान ग्रहण किया।

भावार्थ—नारद जब इन्द्र का सन्देह कह कर, आकाश में चले गये और चन्द्रमा की कान्ति को धारण कर लिया अर्थात् जब वे आकाश में चन्द्रमा के समान दिखलाई पड़ने लगे तब शिशुपाल के वध की स्वीकृति देने के बाद, भगवान् श्रीकृष्ण का मुख शिशुपाल पर क्रोध के कारण भ्रकुटि भङ्गिमा से युक्त हो गया अर्थात् क्रोधवश उनकी भ्रकुटि टेढी हो गई जिससे ऐसा प्रतीति होता था कि शत्रुओं के विनाश का सूचक धूमकेतु आकाश पर उदित हो गया हो। भगवान् की भ्रकुटि धूमकेतु के समान थी, और उनका मुख आकाशवत् था और नारद मुनि चन्द्रवत् थे। ऐसी मान्यता है कि जब चन्द्रमा के पास धूमकेतु का उदय होता है तब राजाओं का विनाश होता है। इस प्रकार के संयोग से यह प्रतीत होता था कि अब शिशुपाल का

विनाश अवश्य होगा क्योंकि ज्योतिः शास्त्र के अनुसार यहां कवि ने चन्द्र के पास आकाश में धूमकेतु का उदय बतलाया है।

समास विग्रहादि--भ्रकुटेः छलम् तेन भ्रकुटिच्छलेन। विनाशस्य पिशुनः विनाश पिशुनः।

संस्कृत टीका–तस्मिन् सुरमुनौ = तस्मिन् देवर्षिनारदे, इति = इत्थम्भूताम् वाचम् = इन्द्र सन्देशात्मिकाम् गिरम्, व्याहृत्य = कथयित्वा, नभः = आकाशम्, उत्पतिते = समुद्गते, पुरः = अग्रे, इन्दोः = चन्द्रस्य, श्रियम् = शोभाम्, बिभ्रति = दधाने (सति) अथ = नारदोक्तेन्द्रसन्देशश्रवणादनन्तरम्। ओम् इत्युक्तवतः = एवमस्तु इत्यभिधाय तद्वचोऽङ्गीकृतवतः, चैद्यम् प्रति = चेदि-जनपदाधिपतिं शिशुपालं प्रति, क्रुद्धस्य = रुष्टस्य, शार्ङ्गिणः = श्रीकृष्णस्य, वदने = मुखे व्योम्नि = आकाशे इव, अनिशम् = सदा, शत्रूणाम् = अरीणाम् विनाशपिशुनः = विनाशसूचकः, केतुः केतुनामकः उत्पातविशेषः धूमकेतुः वा, भ्रकुटिच्छलेन = भ्रकुटिभङ्गव्याजेन, आस्पदम् = स्थानम् चकार = कृतवान्।

संस्कृत सरलार्थ -- इन्द्रस्य सन्देशं श्रावयित्वा नारद आकाश मुत्पपात अथ च तत्र नारदः पुरतः इन्दुशोभां धृतवान्। तदनु नारदोक्त मिन्द्र सन्देश मङ्गीकृतवतः अतएव शिशुपाल प्रति क्रुद्धस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य मुखे भ्रकुटिव्याजेन अरिवधसूचकः केतुनामोत्पात विशेषः स्थितिं चकार। चन्द्र-समीपे समुदितः केतुः नृपविनाशसूचको भवतीति ज्योतिर्विदो मन्यन्ते।

व्याकरण – वि + आ + हृ + क्त्वा-ल्यप् = व्याहृत्य। भृ + शतृ सप्तम्येक-वचने – बिभ्रति। शृंगस्य विकारः शार्ङ्गम् तदस्यास्तीति शार्ङ्ग + इनि = शार्ङ्गी तस्य शार्ङ्गिणः।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार तो "व्योम्नि इव वदने" में उपमालंकार है, पर कुछ विद्वानों टीकाकारों के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार मानना ही ठीक है, उत्प्रेक्षा मानने से अर्थ संगति भी ठीक होती है। "भ्रकुटिच्छलेन" में अपह्नुति अलङ्कार है क्योंकि छल शब्द के प्रयोग द्वारा उपमेय भ्रकुटि की असत्यता दिखलाकर उपमान केतु की सत्यता बतलाई गई है। "इन्दोः श्रियम् बिभ्रति" द्वारा यह बतलाया गया है कि

नारद जी ने चन्द्रमा की शोभा को धारण कर लिया था पर नारद जी

साक्षात् चन्द्र शोभा को धारण नहीं कर सकते, अधिक से अधिक वे चन्द्र सदृश शोभा को धारण कर सकते हैं, अतः यहाँ इस प्रकार के कथन से निदर्शनालङ्कार भी है। क्योंकि यहाँ आरोपित समानता स्पष्ट है। यहाँ उक्त अपह्नुति अलङ्कार उपमा या उत्प्रेक्षा पर तथा निदर्शना पर आश्रित है इस प्रकार यहाँ उपमा (उत्प्रेक्षा) निदर्शना और अपह्नुति के सम्मिश्रण से संकर है। इन अलङ्कारों के अतिरिक्त इस श्लोक में और भी काव्य सौन्दर्य है। क्योंकि यहाँ वीर रस और उसके सहकारी रौद्ररस का भी पूर्ण परिपाक हुआ है।

इस श्लोक में शार्दूल विक्रीडित नामक छन्द है, जिसका लक्षण "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूल विक्रीडितम् है, अर्थात् जिस छन्द में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और अन्त में एक गुरु वर्ण के क्रम से १९ वर्ण हों वह शार्दूल विक्रीडित नामक सम छन्द होता है, यथा—

मगण	सगण	जगण	सगण	तगण	तगण	गुरु
ऽऽऽ	।।ऽ	।ऽ।	।।ऽ	ऽऽ।	ऽऽ।	ऽ
ओमित्यु,	क्तवतो,	ऽथशार्ङ्गि,	णइति,	व्याहृत्य,	वाचंन,	भः।

इसी प्रकार इसके चारों ही चरणों में यही गण तथा १९ वर्ण हैं। इसमें १२ तथा ७ पर यति भी है।

महाकाव्य के लक्षण के अनुसार सर्ग के अन्त में दो श्लोकों में छन्द बदल दिया जाना चाहिए, इसीलिये कवि ने ७४ वें श्लोक में पुष्पिताग्रा का तथा ७५ वें श्लोक में शार्दूल विक्रीडित का प्रयोग किया है, शेष सभी श्लोकों में वंशस्थ छन्द है।

कवि ने अन्त में इस श्लोक में श्री शब्द का प्रयोग मंगल की दृष्टि से किया है, आरम्भ में भी श्री शब्द का प्रयोग एतदर्थ ही किया गया था।

॥ इत्यलम् ॥

परिशिष्ट

प्रथम सर्ग के श्लोकों की अकारादि क्रमानुसार सूची

प्रथम सर्ग की सूक्तियाँ